(अच्छाई-बुराई), 'अपस्वरालु' (अपस्वर) नामक दो सुन्दर उपन्यास लिखे हैं। मध्य-वर्ग की समस्याओं का चित्रण कर, उन समस्याओं की गम्भीरता के बारे में आलोचना करने वाले उपन्यासों में श्री वासवमूर्ति का 'अबला' और 'अल्प जीवुलु', श्री पोतुकूचि साम्बशिवराव का 'उदय किरणालु' (प्रातः किरणें) तथा 'अन्वेषण', श्री पिनिसेट्टी श्री राममूर्ति का 'दत्तता' एवं 'ममता' उल्लेखनीय हैं। व्यक्ति के चारित्रिक विकास को प्रधानता देने वाले उपन्यासों में श्री भास्करभट्ला कृष्णराव का 'युग संधि', कोडालि का 'तारुमारु' (उलट फेर) श्री हीरालाल मोरिया का 'गुडि मेट्लु' (मन्दिर की सीढ़ियाँ) प्रसिद्ध हैं।

चीन के दुराक्रमण को आधार बना कर लिखे गये कुछ अच्छे उपन्यासों में श्री चन्द्रशेखरम् का 'आनन्द निलयम्' उल्लेखनीय है।

श्री रावूरि भारद्वाज के 'पाकुडु राल्लु' में आज के समाज की मलिनता तथा जीवन के ढोंग तथा छल-कपट का निर्भीकता से वास्तविक चित्रण किया गया है।

श्री आर. एस. सुदर्शनम् ने महात्मा गाँधी के स्वर्गवास के बाद देश की परिस्थितियों का चित्रण करते हुए 'असुर सन्ध्या' नामक उपन्यास की रचना की है। इसमें लेखक ने सिद्धान्त और आचरण के परस्पर संघर्ष के द्वैधीभाव की आलोचना करते हुए केवल सिद्धान्त की पराजय को चित्रित किया है।

इस प्रकार आन्ध्र का उपन्यासकार सामयिक धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि प्रभावों से अछूता नहीं रहा है। उसने उन प्रभावों को आत्मसात कर सुन्दर तथा श्रेष्ठ उपन्यासों की रचना द्वारा उपन्यास साहित्य को समृद्ध और समुज्ज्वल बनाया है।

ऐतिहासिक उपन्यास

श्री नोरि नरसिंह शास्त्री

'इतिहास' तथा 'उपन्यास' इन परस्पर विरुद्धार्थी शब्दों के समास 'ऐतिहासिक उपन्यास' कुछ भ्रान्ति उत्पन्न कर सकता है। किन्तु 'ऐतिहासिक उपन्यास' के लिए इतिहास बीज रूप ही होता है। ऐतिहासिक उपन्यासकार यथार्थ रूपी बीज को ग्रहण कर उसे कल्पना जल से सींच कर, सुन्दर वाटिका सजाता है।

कई समर्थ लेखकों की सुन्दर रचनाओं से आन्ध्र का ऐतिहासिक उपन्यास सुसम्पन्न है।

साहित्यिक विधाओं में उपन्यास सबसे नवीन है। उपन्यास को रूप ग्रहण करके दो ही शताब्दियाँ हुई हैं, फिर भी साहित्य की सभी प्रवृत्तियों के सद्गुणों को अपनाकर यह अनेक रीतियों में विकसित हुआ है। साहित्य की इस विधा में विकास और वृद्धि के अपेक्षाकृत अच्छे लक्षण दिखाई पड़ रहे हैं और लगता है कि आगे चल कर हमें 'नवलान्तं (उपन्यासान्तं) हि साहित्यम्' कहना पड़ेगा।

उपन्यास का मूलाधार कथावस्तु है। उपन्यास में कथानक द्वारा ही सामान्य चरित्र का चित्रण करते हुए वाङमय संघर्ष का प्रदर्शन किया जा सकता है तथा उसी के माध्यम से वर्तमान जीवन की आलोचना करके जीवन के आदर्श की ओर इंगित किया जा सकता है। विभिन्न प्रयोजनों को सिद्ध करते हुए पाठक को आनन्दित करना भी उपन्यास का लक्ष्य रहा है। मोटे तौर पर परिभाषा देना चाहें तो यदि कथावस्तु प्राचीन काल से सम्बद्ध है, तो उसे 'ऐतिहासिक उपन्यास' कह सकते हैं अर्थात् 'जो अतीत इतिवृत्त पर आधारित हो' वह ऐतिहासिक उपन्यास है।

इतिहास (अतीत का यथावत् आकलन) तथा उपन्यास (कल्पना प्रसूत) इन दो शब्दों से निर्मित 'ऐतिहासिक उपन्यास' शब्द से किञ्चित् भ्रान्ति होती है। अतीत का पूरा विवरण इतिहास नहीं होता अपितु देश, समाज या व्यक्ति को प्रभावित करने वाली अतीत की घटनाओं का क्रमबद्ध आकलन इतिहास होता है। और जब इसी परिवेश में समुचित कल्पना का पुट दे कर ऐतिहासिक कथानक प्रस्तुत किया जाता है तब उसी को ऐतिहासिक उपन्यास कहते हैं। वास्तव में इतिहास उसके लिए बीज रूप ही होता है। यथार्थ बीज को कल्पना जल से सींच कर मनमानी वाटिका सजाता है ऐतिहासिक उपन्यासकार।

वेद-वेदान्त की और पुराणों की कुछ कथाओं को सुनते या पढ़ते ही ऐसा लगने लगता है कि यह घटना किसी समय, किसी व्यक्ति के साथ अवश्य

घटी होगी और यही इतिहास का बीज है। अगस्त्य के विन्ध्य पर्वत को पार कर दक्षिण में आने की कथा ने समग्र दक्षिणापथ को प्रभावित कर अनेक रूपों को धारण किया है। रामायण और महाभारत को 'इतिहास' कहते है। उक्त दोनों इतिहास ग्रन्थो ने सम्पूर्ण भारतवर्ष को प्रभावित किया है और यही कारण है कि दैनिक-जीवन में पग-पग पर उनका प्रभाव परिलक्षित होता रहता है। इतिहास के लक्षण विद्वानों ने इस प्रकार बताये है—

> **"धर्मार्थ काम मोक्षाणां उपदेश समन्वितम्।**
> **पुरावृत्तं कथायुक्त इतिहासं प्रचक्षते।।"**

अतः ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना के लिए रामायण-महाभारत को मार्ग दर्शक मान सकते हैं।

इतिहास और उपन्यास में कोई विरोधी तत्त्व नहीं है। किसी स्थान पर डॉ. गोपालरेड्डीजी ने कहा था कि "ऐतिहासिक सत्य तथा कल्पना सौन्दर्य से समन्वित रचना ऐतिहासिक उपन्यास है। अथवा वह सत्य और सौन्दर्य का सम्मेलन है।" इस कथन को ऐतिहासिक उपन्यास की ललित परिभाषा के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

हम जिन घटनाओं को प्रत्यक्ष रूप से देखते-सुनते रहते हैं, उन्हें कथा-वस्तु के रूप में ग्रहण कर रचना करना सरल-सा लगता है। लेकिन उन घटनाओं के प्रधान विषय को समझ कर रचना में प्रवृत्त होने के लिए थोड़ी-बहुत आर्ष दृष्टि अपेक्षित है क्योंकि बिना उसके वह रचना सुशोभित न होगी। आर्ष दृष्टि का अभाव हो जाने पर तो वह प्रणयन समाचार-लेखन-सा हो जायेगा। इसके बिना रचित उपन्यास, सभी धनवानों को दुर्गुण-पुंज के समान और सभी निर्धनों को सद्गुण के निधान के समान चित्रित करते हुए प्रकाशित होने वाले सैकड़ों उपन्यासों के समान प्रचार-प्रधान ही बन जायेगा, ऐसी आशंका है। इसलिए वर्तमान की अपेक्षा अतीत का वर्णन करने पर ही कुछ-कुछ निर्लिप्त भाव से रचना करने का या वाङ्मयसिद्धि का समुचित अवसर प्राप्त हो सकेगा।

ऐतिहासिक उपन्यासकारों के सामने एक और कठिनाई उपस्थित होती है। वह है—युगीन परिस्थितियों के अनुसार अपने आदर्शों तथा भावों को प्राचीन युग के चरित्रों पर थोप कर, इतिहास में ही उलट-फेर कर देना। आज प्रधानतया राजनीतिक नेता ऐसा ही कर रहे हैं। ऐसी रचनाओं के

कारण ही आज के समाज में अनावश्यक द्वेष तथा विरोध बढ़ रहा है। सार्व-कालिक धर्मसूत्रों को दृढ़ता के साथ ध्यान में रखने पर ही रचनायें उच्च स्तर की हो सकती हैं।

शव और शल्य के समान ही पाश्चात्य, इतिहास की विगत घटनाओं को भी लिखित रूप में सावधानी से सुरक्षित रखते हैं। इसलिए उनका इतिहास शल्यों (भूमिसात अस्थियों) को अधिक प्रधानता देता है। हमारे सौभाग्य से हमें अतीत के इतिहास के बारे में इतना क्रमबद्ध विवरण प्राप्त नहीं है। अतः ऐतिहासिक उपन्यासकार को मौलिक कल्पनाएँ करने का अधिक अवसर है। हमारे पुराण, काव्य आदि से उन युगों के सामाजिक तथा धार्मिक आचार-व्यवहारों का पता चलता है। यदि उनकी अनुल्लंघनीय सीमा के प्रति सावधान रहें तो ऐतिहासिक उपन्यासकार बिना किसी विघ्न-बाधा के मनमानी कल्पना-वीथियों में स्वच्छन्द विहार कर सकते हैं।

— 2 —

आन्ध्र भाषा में उपन्यास के श्रीगणेश साथ ही साथ ऐतिहासिक उपन्यास का भी, ईसा की 19वीं शती के अन्तिम दशक में, आविर्भाव हुआ है। उस समय टॉड के संकलित तथा प्रकाशित 'राजस्थान कथावली' ने देश को आकृष्ट किया था। उस ग्रंथ को आन्ध्र भाषा में अनूदित करने वाले श्री चिलकमर्ति लक्ष्मीनरसिंहम् ने 'हेमलता' नामक प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास की रचना की है। उसकी कथावस्तु राजस्थान के इतिहास से सम्बद्ध है। उसके बाद शिवाजी आदि महाराष्ट्र-वीरों की कथाएँ प्रचार में आयीं। होल्कर राज्य से संबंधित 'अहल्याबाई' नामक उपन्यास को भी चिलकमर्ति ने ही लिखा। उसके बाद विज्ञान चन्द्रिका ग्रंथ मंडली वालों ने 'हिन्दू महायुगमु', 'महम्मदीय महायुगमु', 'चन्द्रगुप्तुडु', 'शिवाजी चरित्रमु' का प्रकाशन किया। श्री चिलकूरि वीरभद्रराव ने अत्यधिक श्रम कर 'आन्ध्रुल चरित्र' (आन्ध्रों का इतिहास) का प्रकाशन किया। परन्तु इसके आधार पर रचना न कर मंडली का प्रथम पुरस्कार प्राप्त करने वाले 'विमलादेवी' के रचयिता श्री भोगराजु नारायण मूर्ति, 'राणी संयुक्ता' (रानी संयोगिता) के लेखक श्री वेलाल सुब्बाराव आदि लेखक अपनी रचनाओं में राजस्थान के इतिहास पर ही आधारित रहे हैं।

आन्ध्र प्रदेश के इतिहास से सम्बद्ध प्रारम्भिक उपन्यास 1914 में प्रकाश में आये थे। इनमें श्री दुग्गिराल राघव चन्द्रय्या का 'विजयनगर

साम्राज्यमु' तथा श्री केतवरपु वेंकट शास्त्री का 'रायचूरु युद्धमु' (रायचूर का युद्ध) उल्लेखनीय हैं। ये दोनों ही उपन्यास मण्डली द्वारा पुरस्कृत है। फिर भी बहुत समय तक आन्ध्र के उपन्यासकारों को राजस्थान तथा महाराष्ट्र की वीर गाथाएँ ही प्रिय रहीं। परन्तु देशकाल से अपरिचित रचयिताओं की रचना का विषय होने के कारण वे उपन्यास नाम मात्र के लिए ही ऐतिहासिक हैं। उदाहरण के रूप मे श्री वेंकट पार्वतीश्वर कवियों द्वारा रचित 'वसुमतीवसन्तमु' में मौर्य चन्द्रगुप्त का प्रधान पात्र के रूप में आना ही उसकी विशिष्टता है। सम्राट् अशोक के जीवन का चित्रण करते हुए लिखा गया 'इच्छिनी कुमारी' नामक उपन्यास, आकार में छोटा होते हुए भी प्रथम उत्थान के ऐतिहासिक उपन्यासों में श्रेष्ठ है। तदन्तर कुछ समय तक देश के मेधावियों के स्वतंत्रता-संग्राम में सक्रिय रूप से संलग्न रहने के कारण, रचयिताओं की दृष्टि प्रधान रूप से कविता की ओर आकृष्ट हो जाने के कारण और गद्य-लेखकों के अन्य भाषाओं के प्रसिद्ध उपन्यासों के आन्ध्रीकरण मात्र से सन्तुष्ट हो जाने के कारण, आन्ध्रों का इतिहास बहुत समय तक उपन्यासकारों को आकृष्ट नहीं कर पाया।

— 3 —

आन्ध्र के ऐतिहासिक उपन्यासों को श्री विश्वनाथ सत्यनारायण ने 1932 में अपनी 'एकवीरा' द्वारा एक नया मोड़ दिया है। उसकी कथावस्तु यद्यपि तमिल देश से सम्बद्ध है, तथापि 'मदुरै' पर राज करने वाले आन्ध्र नायक राजाओं से सम्बन्धित होने के कारण आन्ध्रों के इतिहास से वह संबद्ध है। उसके प्रधान पात्र उन परिवारों के हैं, जो आन्ध्र से तमिल देश में प्रवास करने गये थे। उसमें मुद्दुकृष्णप्पा नायक की मृत्यु तथा उसके बाद तिरुमल नायक के सिंहासनासीन होने के समय की कथा है। इस उपन्यास में प्रधान कथा के दो मित्रों के पारिवारिक जीवन से संबद्ध होने पर भी उसमें प्रसंगवश उस समय की सामाजिक परिस्थिति, पुर्तगालियों के अत्याचार, लूट खसोट, राबर्ट डि नोबिलि द्वारा 'तत्त्व बोधक स्वामी' के नाम से ढोंगी सन्यासी के रूप में किये धार्मिक उपदेश, मंदिरों का शिल्प वैभव आदि सुन्दर ढंग से चित्रित हैं। तमिल की कवयित्री अव्वयारु के 'अडिच्यूडि'[1] के 'अरंजेविरुंबे' (धर्म का पालन करो) 'अरवदु शिवं' (क्रुद्ध मत हो) इत्यादि बाल-बोध ही प्रौढ़ बोध बन प्रधान पात्रों को धर्म-पथ पर चलने के लिए

1. तमिल का सुप्रसिद्ध काव्य

प्रेरित करते हैं, यह सब बड़ी रमणीयता के साथ वर्णित है। आन्ध्र जहाँ भी बस जायें, वहाँ की उत्तम संस्कृति को किस प्रकार अपना लेते हैं, यह बहुत ही मनोहर रूप से इस उपन्यास में चित्रित किया गया है। 'एकवीरा' में कल्पना तथा इतिहास का सुन्दर समन्वय हुआ है।

'एकवीरा' के बाद श्री विश्वनाथ जी ने 'बद्धन्न सेनानी', 'कडिमि चेट्टु' (कदम्ब वृक्ष) आदि अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की है। पर, उनमें से कोई भी 'एकवीरा' के स्तर का नहीं है। हाल ही में लिखे गये उनके 'पुराण वैरि ग्रंथमाला' के उपन्यासों के बारे में अलग से चर्चा की जायेगी।

इसी समय आन्ध्र के इतिहास से संबंधित कई प्रामाणिक ग्रंथ प्रकाशित होने लगे हैं। सर्वश्री चिलुकूरि वीरभद्रराव, भावराजु कृष्णराव, मल्लंपल्लि सोमशेखर शर्मा, कुरुगंटि सीतारामय्या, डा० नेलटूरि वेंकटरमणय्या, डा० मारेमंडा रामाराव आदि ने कई विशिष्ट ग्रंथ प्रकाशित किये। राजमहेंद्री की ऐतिहासिक मंडली ने 'राजराज नरेन्द्र विशेषांक', 'कलिंग संचिका', 'रेड्डी संचिका', 'काकतीय संचिका', 'शातवाहन संचिका' आदि अमूल्य अंक प्रकाशित कर आन्ध्रों के इतिहास के साथ, इतिहास के मूलभूत आधारों को भी पाठकों की पहुँच में ला खड़ा किया है। परन्तु बहुत कम उपन्यासकार उन सबका उपयोग कर सके हैं। जिन लेखकों ने उपर्युक्त सामग्री से लाभ उठा कर रचना की है, उनमें आन्ध्र विश्वविद्यालय द्वारा पुरस्कृत तीन लेखकों के साथ श्री अडिवि बापिराजु और नोरि नरसिंह शास्त्री का नाम उल्लेखनीय है। इन पाँचों लेखकों द्वारा आन्ध्र का ऐतिहासिक उपन्यास सम्पूर्ण रूप से परिपुष्ट हुआ है।

— 4 —

आन्ध्र विश्वविद्यालय ने अपने इंटरमीडियेट परीक्षा के लिए अपठित गद्य की पाठ्य पुस्तक के रूप में स्वीकृत करने के लिये, आन्ध्र के इतिहास से सम्बद्ध श्रेष्ठ उपन्यास को एक हज़ार रुपये का पुरस्कार देने की घोषणा की है। 1951 तक आन्ध्र देश में विरले ही उपन्यासकार को उपन्यास रचना पर इतना पारिश्रमिक मिला था। इसलिए इस पुरस्कार घोषणा से पहले उपन्यास न लिखने वालों ने भी इतिहास का गंभीर अध्ययन कर ऐतिह सिक उपन्यास लिखने का प्रयास किया, जिसके परिणामस्वरूप कुछ अच्छे ऐतिहासिक उपन्यास प्रकाश में आये।

इस प्रकार के उपन्यासकारों में अग्रणी श्रीमती मल्लादि वसुन्धरा हैं। उनका प्रथम उपन्यास 'तंजावूरु पतनमु' है, जो उन पुरस्कार-प्राप्त उपन्यासों में सर्वोत्तम है। कालेज में पढ़ते समय ही उनका इस प्रकार के श्रेष्ठ उपन्यास की रचना कर सकना आश्चर्य की बात है। 'एकवीरा' के समान, कथावस्तु का तमिल देश से सम्बद्ध होने पर भी, तंजाऊर पर शासन करने वाले आन्ध्र नायक राजाओं में अन्तिम विजयराघवराय के शासनकाल का वर्णन करने से, यह एक प्रकार से आन्ध्र के इतिहास से सम्बद्ध है। इसमें उस राज दरबार में कविता, संगीत, नृत्य, शिल्प आदि कलाओं का अपनी चरम सीमा प्राप्त करने का सुन्दर वर्णन है। किन्तु राजा की भोग लालसा, रंगाजम्मा नामक वेश्या के प्रति व्यामोह, स्तुतिगान में अनुरक्ति दरबारी कवियों की स्तुतियाँ सुन-सुन कर अपने आपको भगवान् मान लेना, अपनी आठ रानियों के साथ दक्षिण नायकत्व को निभा न सकना, वेंकन्ना के षड्यन्त्र में फँस राज्य-पतन के लिए उत्तरदायी होना आदि का अद्भुत चित्रण किया गया है। परम भक्त पेद्दिदास का चरित्र, भोले एल्लु सोमयाजुलु का दूतकार्य, युवराज को बंदी बनाने पर क्रुद्ध पटरानी राजगोपालबिका का विजृंभण, इस बात का पता लग जाने पर कि उसकी रखैल रंगाजम्मा स्वयं उसकी बहन है, विजयराघव का निर्वेद आदि घटनाएँ पाठकों के हृदय पर अमिट छाप छोड़ जाती है। यह उपन्यास श्रीमती वसुन्धरा की सर्वतोमुखी प्रज्ञा का प्रतीक है।

सुश्री वसुन्धरा का काकतीय साम्राज्य के पतन से सम्बद्ध उपन्यास 'सप्तपर्णी' भी पुरस्कृत है। इसमें भी प्रतिस्पर्धा, द्वेष, दुरहंकार, मात्र आडम्बर को राजगौरव की प्राप्ति आदि किस प्रकार राज्य के पतन के कारण होते है, इसका सफल वर्णन किया गया है। इसमें जक्कनाचार्य नामक महा शिल्पी का अपनी मंत्र-तंत्र शक्ति के द्वारा सप्तपर्णी को अष्टपर्णी बना कर राज्य को एक और पीढ़ी तक बनाये रखने के प्रयत्न तथा उसकी पूर्ति के लिए किसी प्रकार का अवसर प्राप्त न होने की कल्पना पर ही समग्र इति वृत्त आधारित है। इस कल्पना में कुछ असम्बद्धता है, अतः यह हृदय पर अपेक्षित प्रभाव नहीं डालता। राजवंश में सात राजा थे, इस विषय का आधार ले कर सप्तपर्णी की कल्पना का विकास किया गया है। फिर भी रचना शिल्प की दृष्टि से यह उपन्यास भी उल्लेखनीय है।

हाल ही में इनके लिखे 'रामप्पागुडि' नामक उपन्यास का—यद्यपि इसे आन्ध्र विश्वविद्यालय का पुरस्कार प्राप्त नहीं हुआ—यहाँ उल्लेख होना

चाहिये। वरंगल जिले में स्थित रामप्पा मंदिर का शिल्प-वैभव भारत में अप्रतिम माना जाता है और इस उपन्यास में उसी का आकलन है।

श्री धूळिपाळ श्रीराममूर्ति लिखित 'भुवन विजयमु' तथा 'गृहराजुमेड' (गृहराज नामक भवन) दोनों उपन्यासों ने विश्वविद्यालय पुरस्कार प्राप्त किये है। मूर्तिजी साहित्यवेत्ता हैं। 'भुवन विजयमु' की कथा विजयनगर के सम्राट् श्रीकृष्णदेवराय के आदिलखान को जीतने से आरंभ हो कर पूर्व दिशा में सफल विजय यात्रा कर, अनेक दुर्गों को जीतते हुये कटक तक जा कर गजपति की पुत्री तुक्खादेवी से विवाह करने के बाद अपनी राजधानी में 'भुवन विजय सभा' के निर्माण की पूर्ति पर समाप्त होती है। इस उपन्यास में सूत्र रूप से 'तिरुमलदेवी' के साथ 'चिन्नादेवी' का राज महिषी के गौरव को प्राप्त करने का प्रयत्न वर्णित है। वस्तुतः राजकुमारी होते हुए भी किसी वेश्या द्वारा पोषित हो कर 'गांड्ल संगी' के नाम से चिन्नादेवी रायलु की प्रीतिपात्र बनती है। उसके प्रणय क्रोध के कारण रायलु का उस पर अनुग्रह नहीं रहता। नंदितिम्मन्ना नामक महाकवि 'पारिजातापहरणमु' नामक काव्य रचना कर उसे रायलु को समर्पित करते हैं और उसे सुन कर रायलु पुनः चिन्नादेवी को अनुगृहीत करते हैं। इसी इतिहास-प्रसिद्ध घटना पर यह कथानक आधारित है। इनमें श्री राममूर्ति ने सूक्ष्मातिसूक्ष्म घटनाओं का ग्रथन कर अपने साहित्य वैशारद्य को प्रदर्शित करते हुए 'पारिजात' के सौरभ से समग्र उपन्यास को सुरभित किया है। इस उपन्यास में तिरुमलदेवी की उदात्तता, तिम्मोजी-कंडोजी का शिल्प-प्रावीण्य, नंदितिमन्ना की कविता माधुरी, महाकवि पेद्दन्ना की सहृदयता हृदयंगम बन पड़ी है। रायलु के वीणा गुरु कृष्णपंडित का चक्रवाक राग, तिरुमलदेवी के कंठ में विरहवेदना के रूप में परिवर्तित हो, मधुरातिमधुर रूप ग्रहण कर पाठकों के कानों में गूँजता रह जाता है।

श्री राममूर्ति के 'गृहराजु मेड' (गृहराज नामक भवन) में भी उनका रचना-नैपुण्य स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होता है।

आन्ध्र-विश्वविद्यालय से पुरस्कृत एक और उपन्यास श्री पाटिबंडा माधव शर्मा का 'राजशिल्पी' है इसमें 'कोंडवीडु' राज्य पर कुमारगिरि के शासनकाल का चित्रण हुआ है। कुमारगिरि के जीवन काल में ही कोंडवीडु राज्य से राजमहेन्द्री अलग हो गयी थी। कोंडवीडु राज्य पर उनके दूर के सम्बन्धी (ज्ञाती) पेदकोमटि वेमारेड्डी तथा राजमहेन्द्री राज्य पर उनके

भानजे का अधिकार हो गया था। सहृदयता से दोनों को राज्य दे कर कुमारगिरि स्वयं कहीं गुफ़ाओं में शिल्पी बन कर रहने का निश्चय कर लेता है। बस, यहीं उपन्यास समाप्त हो जाता है। ऐतिहासिकों का मत है कि कुमारगिरि विलासप्रिय राजा है और लकुमादेवी उसकी रखैल है। इस उपन्यास में कुमारगिरि को मकरंद-मधुर हृदय वाले उत्तम व्यक्ति के रूप में तथा उत्तम आदर्श वाली एवं कला की उपासना करने वाली लकुमादेवी को कुमारगिरि की बहन के रूप में चित्रित किया गया है। इसके बाद 'वेमभूपाल चरित्र' नामक संस्कृत गद्य काव्य की रचना कर 'गद्यकविसार्वभौम' और 'वामन भट्टबाण' के नाम से प्रसिद्ध वामन राजनीति कुशल व्यक्ति के रूप में दिखाई पड़ते हैं। उनके वैदुष्य की अपेक्षा काटयवेम का वैदुष्य अत्यधिक प्रभावशाली बन पड़ा है। वेमभूपालचरित के नायक पेदकोमटि वेमारेड्डी अनुदात्त चरित्र वाले व्यक्ति के रूप में प्रतिभासित होते हैं। उनके शासनकाल में विद्याधिकारी के पद पर विराजमान कविसार्वभौम श्रीनाथ भी अनुदात्त ही दिखाई पड़ते है। मंत्री सिंगना भी वीरशैव-कोलाहल में अपने अस्तित्व को खो बैठते हैं। एक प्रकार से देखा जाए तो यह उपन्यास कुमारगिरि के चरित्र पर पक्षपातपूर्ण दृष्टि रख कर लिखा गया है। हमारे मत में ऐसी कल्पना करने का उपन्यासकारों को निस्सन्देह अधिकार है। मोटे तौर पर इस रचना में उस समय की सामाजिक, राजनैतिक परिस्थितियाँ प्रतिबिम्बित हुई हैं। वेंकोजी का इन्द्रजाल, तिप्पय सेट्टी का सम्मान, मल्लांबिका का संगीत, लकुमादेवी का नाट्य, वीरास्वामी का शहनाई-वादन आदि मानो पूरे उपन्यास में प्रतिध्वनित होते रहते हैं। अन्य उपन्यासों की अपेक्षा इस उपन्यास की शैली प्रौढ़तर है।

आन्ध्र के ऐतिहासिक उपन्यास को आन्ध्र साहित्य की परिधि से बाहर ले जाने वाले हैं श्री अडिवि बापिराजु। उनके लिखे तीन ऐतिहासिक उपन्यासों में 'हिमबिन्दु' निस्सन्देह संसार के श्रेष्ठ उपन्यासों की सन्निधि में रखा जा सकता है। बापिराजु कुछ समय तक वकील थे और कुछ समय तक जातीय कलाशाला (राष्ट्रीय महाविद्यालय) में प्राध्यापक। वे कुछ दिनों तक एक दैनिक पत्र के सम्पादक तथा सिनेचित्र-निर्माता भी रहे थे। समष्टि रूप में वे चित्रकार, कवि, कहानीकार, कोमल हृदय वाले, अमन्द उत्साह से

भरे रहने वाले व्यक्ति थे। उनकी रचनाओं को पढ़ कर ऐसा जान पड़ता है मानो उनके बहुमुखी अनुभवपूर्ण आर्द्रहृदय ने ही 'हिमबिन्दु' का रूप धारण कर लिया है।

यह उपन्यास श्रीमुख शातवाहन चक्रवर्ती के समय का चित्रण करता है। चक्रवर्ती का आदर्श था अपने राज्य को चतुस्समुद्रवेलावलयित कर, धर्म को चारों चरणों पर सुस्थापित कर अपने राज्य को स्वर्गधाम बनाना। राजगुरु का आदर्श था शातवाहन राजवंश को निष्कलमष बना कर उनसे सारे संसार पर शासन करा कर, यज्ञ-याग आदि वैदिक कर्मकांड से देवताओं को तृप्त करना तथा मानवशक्ति को महान् सिद्ध कर, वैदिक-धर्म का तिरस्कार करने वाले बौद्ध और जैन धर्मों को जड़ से उखाड़ फेंक देना। अन्त में दोनों के आशयों की पूर्णता परिलक्षित होती है। किन्तु वह चक्रवर्ती की अन्य धर्मों के प्रति सहनशीलता का ही परिणाम है, न कि राजगुरु के धार्मिक द्वेष का। इस उपन्यास में तीन प्रकार की प्रेम कथाएँ कल्पित की गयी है। विषकन्या श्री कृष्णशातवाहन को देवता के समान प्रेम करती है। हिमबिन्दु स्वर्णश्री से प्रेम कर उसे पति मान लेती है। नागबन्धुनिका और समवर्ती का प्रेम गुण-साम्य से परस्पर आकृष्ट जनों का सांसारिक प्रेम है। पवित्र प्रेम समस्त अवरोधों को पार कर विजय प्राप्त कर लेता है।

मुद्राराक्षस नाटक में भी विषकन्या के प्रयोग का वर्णन है। इस उपन्यास में बचपन से ही अभिचार, होम तथा विषवैद्यों के प्रयत्नों से विषकन्या निर्माण का अद्भुत ढंग से चित्रण किया है। अन्त में वह विषकन्या अपने दादा का विरोध कर श्री कृष्णशातवाहन की प्रेमिका बन, किस प्रकार, अमृतकन्या के रूप में परिणत हुई, यह और भी अद्भुत रूप से वर्णित हुआ है।

श्री कुरुगंटि सीतारामय्या के शब्दों में 'इस उपन्यास में रचयिता श्री बापिराजु धर्म की परिभाषा देते समय धर्मवेत्ता के रूप में, युद्धों का वर्णन करते समय समरशास्त्र कोविद के रूप में, प्रेमियों के कथोपकथन में रसमूर्ति बन, शिल्पचातुरी की प्रशंसा करते समय शिल्पी हो, गायन के समय गायक हो, बच्चों के खेलकूद का वर्णन करते समय बालक रूप में स्वयं को ढाल कर, शास्त्रीय चर्चाएँ करते समय सकलशास्त्रवेत्ता हो, पात्रोन्मीलनवेला में सहृदयाग्रणी बन कर लेखक ने स्वयं को बहुमुखी प्रतिभा का धनी सफल महाकवि सिद्ध किया है।'

उनका दूसरा उपन्यास 'अडिवि शान्ति श्री' है। इसमें बौद्ध और वैदिक धर्म का संघर्ष चित्रित है। कथा का अधिक भाग विजयपुरी में संघटित हुआ है। इसका कथानक उस काल से सम्बद्ध है जबकि नागार्जुन बोधिसत्व का धर्म-प्रचार ज़ोरों पर था। इसमें तीन प्रेम कहानियाँ हैं जिनमें नायिका शान्ति श्री की प्रेम कथा विशेष महत्त्व की है। वह विजयपुर के शासक शान्तिमूल की पुत्री है। परन्तु बौद्ध धर्म से पूर्णतः प्रभावित हो कर, संन्यासिनी-सी बन, प्रेम भावना से सर्वथा अछूती रह कर जीवन-यापन करती है। पिता की आज्ञा से वह कथानायक ब्रह्मदत्त के पास वैदिक धर्म की शिक्षा प्राप्त करने जाती है। उनके पास पहुँच कर उनकी धर्म शिक्षा की अपेक्षा संघटनाओं के कारण उसके हृदय में धीरे-धीरे प्रेम भावना उत्पन्न होती है। ब्रह्मदत्त को ले जाने वाली नौका के तूफ़ान-ग्रस्त हो जाने के कारण उसके दिखाई न पड़ने से वह उद्विग्न हो जाती है। उसके बाद राजदूत के रूप में अपने पास आये हुए ब्रह्मदत्त को पुलमावि द्वारा बन्दी बनाये जाने का समाचार जान कर वह वीरनारियों की सेना ले निरातंक रूप से पुलमावि पर आक्रमण करती है। कथा की इस विचित्र घटना को बापिराजु ने इस प्रकार चित्रित किया है कि वह सत्य-सी ही लगने लगती है। बौद्ध धर्म के प्रचार से जनता संन्यास ग्रहण कर, गृहस्थ-धर्म से विमुख हो गयी थी। इस उपन्यास में यह सिद्ध किया गया है कि धर्म-बद्ध काम के साथ वैदिक धर्म ने उसे परास्त किया है। इस भावना के प्रतीक के रूप में शान्तिश्री की प्रेमकथा की कल्पना की गयी है।

'शान्तिमूल' स्वभावतः वैदिक धर्मनिष्ठ है। उसकी पत्नियाँ बौद्ध-धर्मनिष्ठ हैं। अन्त में अमरावती में शातवाहनवंश के अस्त हो जाने पर, शान्तिमूल के समस्त जनता का निवेदन मान कर, नागार्जुन के आशीर्वाद से चक्रवर्ती पद को स्वीकार कर, इक्ष्वाकु राज्य के संस्थापक बन जाने के बाद उपन्यास की समाप्ति हो जाती है।

उपर्युक्त दोनों उपन्यासों में बापिराजु का बौद्धधर्म के प्रति प्रेम तथा वैदिकधर्म के प्रति गौरव प्रकट होता है।

श्री बापिराजु का 'गोन गन्नारेड्डी' उपन्यास काकतीय राजवंश की रुद्रांबा के समय से संबंधित है। इसमें आन्तरिक विप्लवों को दबा कर, रुद्रम देवी ने महाराष्ट्रों के आक्रमण का किस प्रकार सफलता के साथ सामना किया, इसका सुन्दर चित्रण किया गया है।

बापिराजू के उपन्यासों में दो प्रधान लक्षण दिखाई पड़ते हैं। पहला प्रेमी जनों का प्रेम, दूसरा आन्ध्रत्व के प्रति अपार तथा अनन्य प्रीति। इस उपन्यास में ये दोनों गुण अपनी चरमसीमा में दिखाई पड़ते हैं।

श्री नोरि नरसिंह शास्त्री की प्रकृति एक प्रकार से बापिराजु की प्रकृति से भिन्न है। बापिराजु का उत्साह उद्दाम है, तो नोरि का संयमपूर्ण। बापिराजु को आन्ध्रत्व के प्रति प्रेम अधिक है, तो नोरि को महाभारत के प्रति। बापिराजु के नायक-नायिकाओं में प्रेम का आवेश अपनी पराकाष्ठा पर रहता है। नोरि के नायक-नायिकाओं का प्रेम या तो पारिवारिक माधुर्य का अनुभव करने वालों का-सा संयमित होता है या वीर नर-नारियों का-सा अमुखर। बापिराजु को बौद्धधर्म से आन्तरिक प्रेम है तथा वैदिकधर्म से दिखावटी आदर है। नोरि की वैदिक धर्म में निष्ठा है, बौद्ध आदि सभी धर्मों के प्रति द्वेष रहित सहनशीलता है। किसी में भी, कहीं भी दुराचार हो, वे सह नहीं सकते।

उत्तर और दक्षिण के संधि स्थल में स्थित रहने से यावत् भारत को सुसंगठित करने की शक्ति तथा गुण आन्ध्रभूमि में अधिक है, इसी से आन्ध्र के प्रति नोरि को अत्यन्त प्रेम है। यह प्रेम मात्र इसलिए नहीं है कि वे इस भूमि पर पैदा हुए हैं। आन्ध्र के कवियों के लिए पूज्यतम ग्रंथ, कवित्रय द्वारा आन्ध्रीकृत व्यासकृत महाभारत है। नोरि ने कवित्रय के जीवनकाल का वर्णन करते हुए 'नारायण भट्टु', 'रुद्रमदेवी' तथा 'मल्लारेड्डी' नामक तीन उपन्यासों की रचना की है। कविसार्वभौम श्रीनाथ का विद्यानगर-यात्रा कर, वहाँ के राजकवि डिंडिम भट्टु को पराजित कर उनके पीतल के ढक्के (डुगडुगी) को चकनाचूर कर देने के वृत्तान्त का वर्णन 'कवि सार्वभौमुडु' नामक उपन्यास में हुआ है।

'नारायण भट्टु' का कथाकाल 10 3 का है। उस समय उत्तर-भारत का वातावरण बड़ा विचित्र था। सारी शक्तियाँ आपसी फूट से छिन्न-भिन्न हो विदेशियों के आक्रमण के अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण कर रही थीं। उसी समय दूसरी ओर दक्षिण में चोल चक्रवर्ती दक्षिण भारत को एकच्छत्राधिकार में ला कर, भारतीय वैदिक धर्म की रक्षा कर रहे थे। गंगा नदी तक विजय यात्रा करने वाले गंगैकोंडचोल के दामाद राजराजनरेन्द्र 'कलिकाल

कलंक रूपी पंक' का प्रक्षालन करते हुए राजमहेन्द्रवरमु में राज्य कर रहे थे। उस समय आन्ध्रभूमि के बौद्ध संघ तथा विहार षड्यंत्रों के आकर बन, राजनैतिक विप्लव के केन्द्र बनने लगे थे। समय पर उसका पता लगा कर, सामान्य प्रजा के लिए दुर्बोध व्यासीय महाभारत के प्रतिपादित धर्म को जनता की भाषा में आन्ध्रीकृत कर, उनकी पहुँच में लाने का प्रयत्न भी राजा ने किया था। इन सबके वर्णन के साथ यह उपन्यास समाप्त हो जाता है।

सन् 1248 तक समस्त उत्तर भारत विदेशी मुसलमानों के अधीन हो गया था। खिलजी सुल्तानों की दृष्टि दक्षिण भारत पर पड़ने लगी थी। जब काकतीय साम्राज्य को अड़ोस-पड़ोस के राजा चारों तरफ़ से डुबो देना चाहते थे, तब रुद्रम देवी ने राज्य की सुरक्षा की थी। आन्ध्र के प्रधान तथा प्रबल शत्रु देवगिरि के यादवराजा को उन्होंने जीत लिया था। "आन्ध्र और महाराष्ट्र के लिए गोदावरी और मंजीरा नदियाँ मातृ स्वरूपा हैं, जीवनदात्री हैं। सगे भाई व्यर्थ ही इन कलहों में अपनी शक्ति का अपव्यय कर रहे हैं' यह सोच कर उक्त दोनों राजा आपस में सुलह कर लेते हैं।

रुद्रमा के पति वीरभद्रेश्वर चाहते हैं कि अपनी दूसरी पत्नी की सन्तान को राज्याधिकार प्राप्त हो। पर चक्रवर्ती रुद्रमा का ही राजतिलक कर देते हैं। वीरभद्रेश्वर रुष्ट हो जाते हैं, अन्तः कलहों को प्रेरित कर, शत्रु राजाओं को आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। रुद्रमा के अन्तर में राजधर्म तथा व्यक्ति धर्म में संघर्ष उत्पन्न होता है। राजधर्म के पालन के लिए सीता की पवित्रता को जानते हुए भी श्रीरामचन्द्र जी ने उन्हें जंगलों में भेज दिया था, इस बात का स्मरण कर, दोष भाव-युक्त पति का—राजधर्म को मान कर—सामना करती है। वीरभद्रेश्वर भोले-भाले जैनियों से विप्लव करवाते हैं। रुद्रमा उस विप्लव के नेताओं को कठोर दण्ड दे कर साधारण जनता को, भूल से अपराध करने वाली सन्तान के समान, क्षमा कर देती है और उनमें से निरपराध व्यक्तियों, वीरभल्लटदेशिक तथा सिद्धनंदि आदि का अत्यन्त आदर-सम्मान करती है।

प्रसंगवश इस उपन्यास में उस समय एकशिला नगरी में निवास करने वाली सभी श्रेणियों की जनता के जीवन का चित्रण किया गया है। निर्लिप्त तिक्कना सोमयाजी महाभारत की रचना में व्यस्त रहते हुए भी क्लिष्ट परिस्थितियों में राजनैतिक नौका को योग्य पुरुषों के द्वारा संचालित करवाते हैं।

कोप्पेरुंजिगड्ु (राजसिंह) नामक काडव देश के प्रभु गोदावरी के किनारों तक भू तथा नौ सेना को संचालित करते हुए आते हैं और आन्ध्र साम्राज्य पर आक्रमण करते हैं। वे 'साहित्यमल्ल' तथा 'खड्गमल्ल' के बिरुदों से समलंकृत हैं। आन्ध्र सेनाएँ गोदावरी के किनारों पर शत्रु की सेनाओं का—भूमि पर तथा समुद्र पर—सामना करती हैं। अपने सेनापतियों को युद्ध करने की आज्ञा दे कर, गोदावरी तीरवर्ती पंडितों के समक्ष अपने 'साहित्यमल्लत्व' का प्रदर्शन कराने की इच्छा से राजसिंह अपने इष्ट दैव 'कनकसभापति' की पूजा के अंग रूप में भास के 'ऊरुभंग' नामक नाटक का अभिनय करवाते हैं और परिणामस्वरूप रणक्षेत्र में सेनाएँ भीमसेन और दुर्योधन के गदा युद्ध का ही अनुकरण करती हैं। आन्ध्रों की गजघटाओं तथा काडव सेना के अश्वबल एवं आन्ध्रों की बड़ी-बड़ी नौकाओं तथा काडवों की असंख्य छोटी नौकाओं के मध्य युद्ध का वर्णन दुर्योधन के ऊरुभंग के समान परिणत होने की घटना का वर्णन अत्यन्त कुशलता से किया गया है। इस उपन्यास का महत्त्व इससे स्पष्ट है कि केन्द्रीय साहित्य अकादमी ने निश्चय किया है कि इस उपन्यास का सभी भारतीय भाषाओं में अनुवाद हो।

मल्लारेड्डी सन् 1329 की रचना है। उस समय महम्मद बिन तुग़लक ने दक्षिण भारत में अराजकता फैला दी थी। अत. संकट से त्राण पाने के लिए उस संक्रांति काल में सामान्य प्रजा में से ही महावीरों ने जन्म लिया तथा विप्लव का नेतृत्व कर धर्मनिष्ठ राज्यों की स्थापना की। सर्वप्रथम विमुक्ति प्राप्त करने वाले कृष्णानदी के दक्षिण तटवर्ती रेड्डी राजा थे। इस विजय के बाद ही रेड्डियों के कुल देवता के रूप में 'नंदि कन्त पोतराजु' नामक 'कठारि देवता'[1] प्रतिष्ठित होते हैं। श्री शंकर स्वामी द्वारा सहस्र चंडीयाग की समाप्ति के साथ जनता को विश्वास हो जाता है कि धर्मवृषभ का आविर्भाव हो गया है। इस विश्वास के साथ वे विधर्मियों के साथ महायुद्ध करते हैं। अन्य देशों तथा दूर-दूर के द्वीपों से, अनेक महानौकाओं के द्वारा व्यापार करने वाला अवचिदेवय नामक श्रेष्ठी नौकाएँ, अस्त्र-शस्त्र, गज, अश्व आदि से इस धर्म-युद्ध की सहायता करता है। कथा के प्रारम्भ में श्मशान सदृश दिखाई पड़ने वाली आन्ध्र भूमि सर्वसम्पन्न बन जाती है। 'हरिवंश पुराण' के अनुवाद के साथ 'एर्रय' महाभारत के अवशिष्ट भाग का अनुवाद तेलुगु में पूर्ण कर देते हैं।

1. जो धर्म के लिए आत्म बलिदान कर देवता बन गये हों।

'कवि सार्वभौम' में सन् 1420 में कविवर श्रीनाथ 'कोंडवीडु' से सांस्कृतिक विजय यात्रा के लिए श्री विद्यानगर की यात्रा करते हैं। युद्ध-यात्रा के सभी दाँव-पेचों का प्रयोग करते हुए विद्यानगर के डिंडिम भट्टारक को उद्भट शास्त्र चर्चा में पराजित कर उनके पीतल के ढक्के को तुड़वा देते है। तदुपरान्त दोनों को एक दूसरे पर आदर भाव उत्पन्न हो जाता है। राजदरबार में श्रीनाथ अपनी बहुमुखी प्रज्ञा का प्रदर्शन कर, 'कविसार्वभौम' के विरुद से समलंकृत हो, कनकाभिषेक करवा लेते है। उन दिनों श्री विद्यानगर में होने वाली वेद-वेदान्त आदि की चर्चाएँ तथा दार्शनिक चर्चाएँ आदि सामान्य पाठकों को उत्कंठित करती रहती हैं। पर्वतमल्ल और विद्यामल्ल तथा उनके शिष्यों के मध्य होने वाले मल्ल युद्ध के वर्णनों ने शास्त्र चर्चाओं की प्रतिध्वनि के समान वर्णित हो कर, उपन्यास को रमणीयता प्रदान की है। इस उपन्यास में यह दरसाया गया है कि राजनैतिक रूप से श्री विद्या नगर तथा कोंडवींडु में तथा राचकोंडा एवं देवरकोंडा में अनेकों प्रतिस्पर्धाओं के होते हुए भी विद्वानों का आदर-सत्कार करने में कोई विरोध नहीं था और शास्त्र चर्चाओं में पंडित-परिषद् बड़ी निष्पक्षता और दृढ़ता के साथ अपने निर्णय देती थी। उसके थोड़े ही समय बाद आन्ध्रों के गर्व का कारण बने महाभागवत के रचयिता पोतन्ना, कन्नड भाषा में उल्लेखनीय 'भारतमु' काव्य की रचना कर 'बाल व्यास' के नाम से प्रसिद्ध होने वाले नारनप्पा ये दोनों महानुभाव इस उपन्यास के कथानक के समय युवक थे। वे लोग उत्तम काव्य की रचना के लिए किस प्रकार आदर्श भावनाओं से युक्त हो रहे थे, यह विषय इस उपन्यास में बड़े प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया गया है।

कवि, नाटककार, कहानीकार, साहित्य-समालोचक और वैदिकधर्म निष्ठ श्री नोरि नरसिंह शास्त्री ने प्रौढ़वय में ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना में लग कर अपनी सर्वतोमुखी प्रज्ञा का प्रदर्शन कर, उपन्यास के सर्वाङ्गिगीण विकास को सम्पन्न किया है, ऐसा आलोचकों का मत है।[1]

भारतीय इतिहास की सीमाओं का अतिक्रमण कर लिखे गये ऐतिहासिक उपन्यासों में श्री तेन्नेटि सूरि का 'चेंधिजखान' प्रथम तथा प्रधान है। यह उप-

1. आपकी नवीनतम रचना 'धूर्जटि (श्री कृष्णदेवराय की सभा के एक महा कवि) धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो रही है।

न्यास सर्वांग सुन्दर रूप में क़दम-क़दम पर 'गोबी' रेगिस्तान के वातावरण का चित्रण करते हुए, वहाँ की जनता के तीव्र राग-द्वेष का दिग्दर्शन कराता है। एक्का मंगोल जाति के मुखिया यासुकै का मेर्किट समूह के सभी सदस्यों को तलवार के घाट उतार कर, वधू यूलन को जबरदस्ती उठा ले जाने की घटना से उपन्यास का प्रारम्भ होता है। बहुत समय तक यूलन यासुकै की पत्नी बनने के लिए राजी नहीं होती और जिद्द के कारण उसका विरोध करती है। परन्तु अंत में भाई कराचर के उपदेश को मानकर यासुकै की पत्नी बनने के लिए राजी हो जाती है और टेमूजिन को जन्म देती है। यासुकै मंगोल के सभी क़बीलों को एकता के सूत्र में आबद्ध कर केरेट के प्रभु तुघ्रालखान को सहायता देने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। एक दिन अकस्मात् यासुकै शत्रुओं के धोखे में पड़ मारा जाता है। ऐसे समय में जबकि मंगोलों का संगठन फिर से विछिन्न होने वाला था, टेमूजिन शासन की बागडोर को अपने हाथों में लेता है। युवक होते हुए भी वह साम-दान आदि से, 'गोबी' के क़बीलों को एक सूत्र में बाँध कर, तूघ्रालखान, चीन के चक्रवर्ती, तुर्किस्तान के अधिनेता आदि के षड्यन्त्रों का, दाँव-पेंचों का अत्यन्त वीरता तथा साहस के साथ सामना कर उन्हें पूरी तरह हरा कर 'चेंघिजखान' (जगज्जेता) बन जाता है। उसका भाई चमूगा पढ़ा-लिखा है। वीर होने पर भी शान्तिप्रिय है। टेमूजिन उसे 'नैमान' की जनता का राजा बना कर भेजता है। वह जनता से अस्त्रविसर्जन कराकर, देश को कुछ समय के लिए सस्य सम्पन्न बना देता है। परन्तु बौद्ध, इस्लाम, ईसाई धर्म के प्रचार करने वालों के द्वारा शत्रु राजाओं के द्रोह के कारण चमूगा का सारा प्रयत्न असफल हो जाता है। यह घटना पाठकों को उत्कंठित करती है। सन् 1960 की वसंत ऋतु में सम्पन्न विजय के उत्सवों में टेमूजिन चेंघिजखान बन जाता है और वहीं उपन्यास समाप्त हो जाता है। यह उपन्यास उस समय के असभ्य साहसिक वीर-लोक का ही वर्णन करता है। आज भले ही हम अपने को सभ्य मान गर्व करें, पर इस उपन्यास को पढ़ते समय लगता है कि मानव जाति पर शासन करने की क्षमता, महाशक्ति 'पशुशक्ति' में ही है। आन्ध्र भाषा के प्राणवान उत्तम उपन्यासों में 'चेंघिज-खान' का निस्सन्देह विशिष्ट स्थान है। इस एक उपन्यास को ही लिखकर युवावस्था में स्वर्गस्थ होने वाले सूरि के निधन से उपन्यास क्षेत्र को अत्यन्त हानि हुई है।

8

आन्ध्र भाषा में और भी कई ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गये और लिखे जा रहे हैं। उनमें श्री वेदुल सूर्यनारायण शर्मा का 'आर्य चाणक्युडु' का उल्लेख आवश्यक है। उसमें कई ऐतिहासिक तथ्य भरे पड़े हैं। पर, वह रचना इतिहास अधिक लगती है, उपन्यास कम।

आन्ध्र के इतिहास-वेत्ताओं में सर्वमान्य डॉ. नेलटूरि वेंकटरमणय्या की 'पाश्चात्ताप', 'छत्रग्राही', 'मधुमावती' आदि रचनाएँ बड़ी कहानियों के क्षेत्र में आती हैं, क्योंकि उनमें उपन्यास के लिए आवश्यक विस्तार का अभाव है। उन्होंने बड़े ही अनुकरणीय ढंग से यह दरसाया है कि इतिहास तथा कल्पना को किस प्रकार संयुक्त किया जा सकता है।

माध्यमिक शालाओं में पाठ्य पुस्तकों के उद्देश्य से कई छोटे-छोटे ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गये हैं। उनमें श्री वाविलाल सोमयाजुलु के 'नालंदा' में उस युग के आचार्यों के वैभव का सुन्दर निर्वाह हुआ है। अनवेमा-रेड्डी की विजय यात्रा का वर्णन करने वाला 'वसन्तरायलु' भी गणनीय है। इसके लेखक बिहारी-शातवाहन है। श्री पुट्टपर्ति नारायणाचार्य का 'अभय प्रदानमु' भी उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त और भी कई छोटे-मोटे ऐति-हासिक उपन्यास लिखे गये हैं।

श्री विश्वनाथ सत्यनारायण आज के आन्ध्र-साहित्य-क्षेत्र में अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा का प्रदर्शन करते हुए अनेक उत्तम उपन्यासों की रचना के बाद, हाल ही में 'पुराण वैरि ग्रंथमाला' के नाम से 16 उपन्यास लिखने का संकल्प कर, दो वर्षों में 12 उपन्यास लिख चुके हैं। हमने अपने इस लेख के प्रारम्भ में ही बताया था कि हमारे पुराण आदि आर्ष ग्रन्थों में कई ऐति-हासिक तथ्य निहित हैं, रामायण, महाभारत आदि ही ऐतिहासिक उपन्यासों के मार्गदर्शक हो सकते हैं। श्री विश्वनाथ इससे ज़रा आगे बढ़ गये, ऐसा प्रतीत होता है। पौराणिक कथाओं को ही लेकर श्री कोटा वेंकटाचलम ने भारत जाति के इतिहास को लिखा था। श्री विश्वनाथ का निश्चित मत है कि वही सच्चा इतिहास है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पाश्चात्यों के द्वारा उनके अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से लिखे गये भारत के इतिहास को आद्यन्त पुनः परिशीलन कर, भारत के इतिहास को भारतीय दृष्टिकोण के साथ लिखा जाना चाहिए। शब्द-साम्य के आधार पर हूण मिहिरगुल को हूण न मान कर

मिहिर (सूर्य) कुलोत्पन्न आदर्श भारतीय मानने के लिए अभी हमारी बुद्धि की पहुँच नहीं हो रही है। यही नहीं, इस ग्रंथमाला के सभी उपन्यासों की रचना में, कल्पना में, जल्दबाज़ी तथा विश्रृंखलता का दिखायी पड़ना खेद का विषय है। यत्र-तत्र यदि विश्वनाथ की प्रतिभा दिखायी न पड़ती रहे तो इन रचनाओं की कोई गणना ही नहीं हो सकती। जो भी हो, श्री विश्वनाथ के पुराण वैरि ग्रंथमाला के ऐतिहासिक उपन्यास, ऐतिहासिक उपन्यासकारों तथा आलोचकों के लिए एक चुनौती है, यह तो निर्विवाद मानना ही पड़ेगा।

सामाजिक उपन्यास

श्री धूळिपूडि आंजनेयुलु

विश्व साहित्य का प्रत्येक उपन्यास, किसी न किसी अर्थ में, सामाजिक हुए बिना नहीं रह सकता। अपने अनेक रूप विधान तथा शिल्प के प्रकारों से युक्त उपन्यास समाज के वर्णन से असंपृक्त नहीं रह सकता। सामाजिक उपन्यास के लिए समकालीन समाज का चित्रण केवल भूमिका मात्र नहीं होता। वह तो एक प्रकार से समग्र चित्र का ताना-बाना होता है।

'मालपल्लि' तेलुगु का श्रेष्ठ सामाजिक उपन्यास है, मानो वह एक सामाजिक अभिलेख है।

इस क्षेत्र में कई उदीयमान लेखक प्रयत्नशील और जो सामग्री उपलब्ध है, वह निराशाजनक नहीं है।

सभी उपन्यास, किसी भी भाषा के क्यों न हों, किसी न किसी अर्थ में सामाजिक हुए बिना नहीं रह सकते । हो सकता है कि उपन्यासकार के दृष्टिकोण के अनुसार, सामाजिक वर्णनों की अधिकता या न्यूनता हो अथवा सामाजिक विषयों पर अधिक या कम ज़ोर दिया गया हो । अतः केवल वर्गीकरण की दृष्टि से देखा जाए तो एक ओर ऐतिहासिक तथा राजनैतिक उपन्यास होंगे तो दूसरी ओर मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास और उनके विकसित रूप-चेतना-धारा के उपन्यास होंगे । अपने अनेक रूपी विधान तथा शिल्प के विभिन्न प्रकारों से युक्त लम्बी कथा के ये सब रूप अपने निश्चित उद्देश्य को लिये होते हैं । यह साधन ऐसा नहीं है जो असंख्य गृहिणियों के लिए समय काटने का साधन हो अथवा तरुण-तरुणियों (Juveniles) के, भले ही वे किसी भी वय के क्यों न हों, (क्योंकि हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि 16 से लेकर 60 तक भी तरुण होते हैं) मनोरंजन का आसान साधन हो । साधारणतया सस्ती पत्र-पत्रिकाएँ इस प्रकार के धारावाहिक उपन्यासों से भरी रहती हैं, जिनका कथानक प्रायः प्रेम के उसी पुराने त्रिकोण पर आधारित होता है । इन उपन्यासों मे सामाजिक जीवन का चित्रण फीके पड़े परदे के समान या विवाह के उस पुराने फ़ोटो के समान होता है जिसके चारों ओर बेलबूटे अंकित हों । सच्चे अर्थों में सामाजिक उपन्यास में समकालीन समाज के जीवन का चित्रण केवल भूमिका मात्र या केवल अलंकार मात्र नहीं होता । वह तो एक प्रकार से समग्र चित्र का ताना-बाना होता है जिसके लिए प्रेम की कथा तो अलंकार मात्र होती है जैसे हथकरघे की साड़ी पर बेल-बूटे । विश्व साहित्य में हमें आकर्षित करने वाले सामाजिक उपन्यासकारों में टाल्स्टाय और डिकेन्स, प्राउस्ट और थामसमैन, अप्टन सिनक्लायर और सिनक्लायर लूइस, पर्लबक और जान स्टेइनबैक प्रमुख हैं तो देशी साहित्य में शरतचन्द्र चटर्जी, ताराशंकर बैनर्जी (बंग भाषा में), प्रेमचन्द और फणीश्वर नाथ रेणु (हिन्दी में), एन. एस. फड़के (मराठी में), चन्दू मेनोन और तक्षी

(मलयालम में) हैं, जिनके सामाजिक उपन्यास बरबस हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। तेलुगु के उपन्यास साहित्य में दूसरों से अलग दो नाम, हमारे ध्यान को विशेषतः आकर्षितकरते हैं। वे नाम इस क्षेत्र के अग्रणी स्व. उन्नव लक्ष्मी-नारायण तथा श्री कोडवटिगंटि कुटुम्बराव के हैं।

अभिव्यक्ति की कई नयी विधाओं के समान—चाहे गद्य में हो अथवा पद्य में—सामाजिक उपन्यास की रचना में भी कन्दकूरि वीरेशलिंगम् को ही वास्तव में मार्गदर्शक माना जा सकता है। 'गोल्डस्मिथ' के 'विकार आफ़ वेकफील्ड' से प्रेरित कहे जाने पर भी (स्वयं लेखक ने इस बात को स्वीकार किया है।) पन्तुलुजी का 'राजशेखर चरित्रमु' (सन् 1880 में प्रकाशित) किसी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। और यह इससे स्पष्ट है कि उस उपन्यास का पुनः Wheel of the fortune (भाग्यचक्र) के नाम से अंग्रेजी में अनुवाद हुआ है। इतिवृत्त के विस्तृत ढाँचे तथा नैतिक आकर्षण में शायद 'विकार आफ़ वेकफील्ड' से 'राजशेखर चरित्रमु' की कुछ समानता हो सकती है, किन्तु अपने विषय तथा शैली, चरित्र-चित्रण और सामाजिक पृष्ठभूमि आदि कई दृष्टियों से वह आन्ध्र की अपनी वस्तु बन गया है। उसका नायक राजशेखर, 19वीं शती के उत्तरार्ध के आन्ध्र देश के गोदावरी जिले के उच्च मध्य वर्ग के ब्राह्मण परिवार का सदस्य है। पुनरावृत्त होने वाली निर्दय नियति के आघातों को सह कर, भगवान और मानव के हाथों भ्रम का शिकार बन कर भी वह अपने व्यवहार में कुछ इतना अधिक इमानदार तथा सीधा-सादा है जिसकी आशा यथार्थ जीवन में किसी साधारण गृहस्थ से नहीं की जा सकती। अन्तिम विजय के रूप में लेखक द्वारा सत्य की प्रतिष्ठा इस बात का परिचय देती है कि उपन्यास के लेखक को, अपने देशवासियों तथा सहधर्मियों के समान ही सत्य की अन्तिम विजय पर पूर्ण विश्वास था। (स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद 'सत्यमेव जयते' ही हमारा नारा है। सत्य की विजय का यह गम्भीर तत्त्व, केवल व्यापारिक दृष्टिकोण रखने वाले अंग्रेज़ों की (ईमानदारी ही श्रेष्ठ नीति है) धारणा में भी निहित है। सत्य की विजय को इस उपन्यास में पूर्णरूप से प्रतिष्ठित किया गया है। वीरेशलिंगम् के शिष्य श्री चिलकमर्ति लक्ष्मीनरसिंहम् पन्तुलु ने 'रामचन्द्र विजयमु' की रचना की थी, जिसमें यथावत् असत् पर सत् की, छलकपट तथा विश्वासघात पर धर्म तथा सद्वृत्तियों की विजय का चित्रण किया गया है। इस उपन्यास में भी पात्र मध्यवर्ग के ब्राह्मण परिबार के हैं। दोनों लेखकों में एक ही अन्तर है—वीरेशलिंगम् पन्तुलु नैतिकतावादी

पहले हैं उपन्यासकार बाद में एवं चिलकमर्ति जी उपन्यासकार पहले हैं और नैतिकतावादी बाद में।

इन दो महान् लेखकों की रचनाओं के बाद, कुछ समय तक, इस शताब्दी के प्रारम्भ में, बंगाली, हिन्दी, मराठी आदि भारतीय भाषाओं के तथा अंग्रेज़ी, फ्रेंच आदि यूरोपीय भाषाओं के उपन्यासों के अनुवादों की बाढ़-सी आ गयी थी। बंकिमचन्द्र के लगभग सभी उपन्यास श्री वेंकट पार्वतीश्वर कवुलु और कुछ अन्य अनुवादकों द्वारा तेलुगु में रूपान्तरित किये गये थे। यह कहना कठिन है कि इनमें कितने उपन्यास मूल बंगला से अनूदित हुए हैं। इसी प्रकार, कुछ दशकों के बाद, शरत् के उपन्यासों के अनुवाद, नियमित रूप से, (चक्रपाणि, शिवरामकृष्ण और अन्य अनुवादकों द्वारा) प्रस्तुत किये गये। बीसवीं सदी के दूसरे तथा तीसरे दशक में प्रसिद्ध बंगाली उपन्यासकारों के उपन्यासों का भी अनुवाद हुआ। प्रगतिवादी लेखन के संगठित रूप से प्रचलन के बाद आधुनिक रूसी (क्रांति के बाद की) रचनाओं—क्लैसिक्स का—(गोर्की, हेरेनबर्ग आदि) का अनुवाद लोकप्रिय होने लगा।

यह नहीं कहा जा सकता कि इन दिनों कोई उल्लेखनीय मौलिक उपन्यास रचा ही नहीं गया। दो लेखक तो हमारे ध्यान को बरबस आकर्षित करते हैं। एक श्री विश्वनाथ सत्यनारायण है जिन्होंने कई प्रभावशाली रचनाएँ की हैं तथा दूसरे श्री अड़िवि बापिराजु है, जो अधिक रचनाएँ न करने पर भी, उतने ही महत्वपूर्ण हैं। 'वेयि पड़गलु' (सहस्र फन) एक महतो प्रतिभा का ज्वलन्त प्रमाण है जो पाठकों की आत्मीयता एवं ममता की अपेक्षा विस्मय तथा प्रशंसा का पात्र है। वह उस समग्र एवं जटिल हिन्दू सामाजिक जीवन का सरसरी दृष्टि से, चित्रण करने का प्रयत्न करता है जिसमें वर्ण व्यवस्था तथा परम्परागत रूढिवादिता को प्रश्रय मिला है। यद्यपि उपन्यास में अकुटिल कुशल अनुशीलन शक्ति द्वारा विस्तृत कल्पना शक्ति का प्रदर्शन किया गया है, तथापि वह सामयिक समाजिक वातावरण का यथावत् चित्रण करने में सफल नहीं हो पाया है। वह ऐसी व्यवस्था के वर्णन के प्रति उत्सुक है अथवा ऐसी व्यवस्था के प्रति पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता है, जो मृत या मृत-प्राय है और जिसके लिए बिरले ही आँसू बहाया करते है। दूसरी ओर श्री बापि-राजु हैं जिनकी अत्यधिक कल्पनाशीलता के कारण उनकी रचनाओं में मानव की मनोवृत्तियों तथा सामाजिक ढाँचे का यथावत् आकलन नहीं हो पाया है। यद्यपि श्री बापिराजु का 'नारायणराव' प्रशंसनीय मानव वृत्तियों का उद्घाटक

होते हुए भी गवेषणाशील पाठक को संतुष्ट नहीं कर सकता तथापि वह उस राष्ट्रवादी को, जो जमींदारी प्रथा अथवा व्यवस्था से पीडित है, उत्साहित अथवा प्रसन्न कर सकता है।

अगर अपने विषय तथा भाषाशैली के दृष्टिकोण से समय की कसौटी पर खरा उतरने वाले एक उपन्यास का नामोल्लेख करने को कहा जाए तो हम निस्संकोच श्री उन्नव लक्ष्मीनारायण के 'मालपल्लि' (हरिजनों की बस्ती) का नाम लेंगे। यद्यपि वह श्रीमती हेनरी वुड के 'ईस्टलिन' के आधार पर रचा गया है फिर भी बुद्धिमान तथा पक्षपात रहित पाठक के लिए उसमें बहुत कुछ उपादेय और प्रशंसनीय तत्व हैं।

उस रचना के विपक्ष में कितनी भी आलोचनाएँ क्यों न की गयी हों, वे उसके वास्तविक वस्तुगत वैशिष्ठ्य को कम नहीं कर सकतीं। उसकी भाषा (गुन्टूर ज़िले की) इतनी स्वाभाविक, ठेठ तेलुगु मुहावरों से युक्त, पवित्र एवं अदोष है कि वह एक सामाजिक अभिलेख जान पड़ता है, जिसका महत्त्व अक्षुण्ण है। एक और बात, उस उपन्यास के पात्र, हरिजन हों अथवा सवर्ण, स्त्री हों या पुरुष, यथार्थ जीवन के इतने निकट हैं कि कला में रूपान्तरित हो कर भी अपने चित्रण में कोई अतिशयोक्ति नहीं आने देते। इसके अतिरिक्त इस उपन्यास मे समग्र क्रान्ति के—सामाजिक, नैतिक, राजनीतिक आदि—जिसने महात्मा गाँधी के नेतृत्व में सारे देश को आन्दोलित किया था, वर्णन के प्रसंग में 'मालपल्लि' के कथानक का विस्तार महाकाव्य-सा हो गया है।

इस उपन्यास में चित्रित हरिजन समाज रामदास के ऋषितुल्य एवं कोमल नेतृत्व में शान्तिमय क्रान्ति को अपनाता है। रामदास उस हरिजन परिवार का सदस्य है जिसे अग्निपरीक्षा देनी पड़ती है। रामदास का मंझला पुत्र संगदास इस क्रान्ति की सफलता के लिए अपनी बलि देता है। सर्वत्र शहीद का खून क्रान्ति का बीज वपन कर देता है। संगदास अपनी मृत्यु में भी (वह परम्परागत ज़मींदार प्रथा के प्रतिनिधि चौधरय्या की हेंगी से मारा जाता है।) गाँधीजी के सन्देश को चरितार्थ करता है। वह अपने हत्यारे या उसके वर्ग के प्रति किसी भी प्रकार का घृणित भाव रखे बिना, एक महत्त्वपूर्ण कारण के लिए अपनी जान दे देता है। उसका बड़ा भाई (रामदास का ज्येष्ठ पुत्र) वेंकटदास घर से भाग जाता है और रॉबिन हुड के समान 'तक्केळ्ळा जग्गडु' के नाम से डाकू बन कर अमीरों को लूटता और ग़रीबों की

सहायता करता है। अन्त में वह पकड़ा जाता है। उसकी छोटी बहन 'ज्योति' ज्योति-सी ही पवित्र है। वह पॉल की पशुप्रवृत्ति का शिकार बन जाती है और उसका सच्चा प्रेमी अप्पादास, कृष्णानदी के प्रखर प्रवाह में डूब मरने वाली ज्योति का अनुगमन करता है। यह सब और इससे भी अधिक बदा था धैर्यशाली तथा क्षमाशील रामदास के भाग्य में। वह ज़मींदारों के षड्यन्त्र का शिकार बन जेलयात्रा करता है परन्तु गाँधीजी से प्रभावित होने के कारण वह सब कष्ट चुपचाप सहन कर अपने गाँव लौट आता है और निर्लेप भाव से अपने ग्राम के नवनिर्माण के लिए, उसे बुराई, रिश्वत, अज्ञान तथा रूढिवादिता से मुक्त करने के लिए अथक प्रयत्न करता है और अन्त में 'मालपल्लि' (हरिजनों की बस्ती) को 'मुनिपल्लि' (मुनियों की बस्ती) बनाने में सफलता प्राप्त करता है। इसके बाद स्वयं जंगलों में जा गायब हो जाता है। ज़मींदार के परिवार में, यद्यपि पुत्र दूसरों की अपेक्षा अधिक समझदार था फिर भी उसे पिता के पापों का फल भोगना पड़ता है। उसकी पत्नी राह भटक जाती है और उसका अन्त दुखद होता है। जैसा कि संसार में है, वैसा ही इस उपन्यास में अन्याय अत्याचार और शोषण का चित्रण हुआ है और अन्त में यह प्रमाणित किया गया है कि मनुष्य की आत्मा शोषण और बलिदान की परीक्षा दे कर अधिक समुज्ज्वल हो जाती है।

श्री कुटुम्बराव के छोटे-छोटे उपन्यासों की सूची काफ़ी लम्बी है। इन सब में 'चदुवु' (पढ़ाई) (1952 में प्रकाशित) नामक उपन्यास का अपना विशिष्ट स्थान है। यह रचना दोनों महायुद्धों के मध्य परिवर्तनशील आन्ध्र समाज का चित्रण करती है। जिस साधारण ढंग से उपन्यास का प्रारम्भ हुआ है, उसे देख कर पाठक आरम्भ में विशेष उत्साहित नहीं होता। किन्तु जैसे-जैसे कथानक का विकास होता है, वह गम्भीर होता चला जाता है। सुन्दरम् (जो इस उपन्यास का नायक है) का अध्ययन इतना विस्तृत है कि सब विषयों को वह अपने में समा लेता है। लेकिन वह अध्ययन उसे जीवन के संघर्ष के लिए तैयार करने में असफल हो जाता है। बचपन से ही साधुस्वभाव का सुन्दरम् जीवन और उसके कठिन संघर्ष से भयभीत हो, रूढ शिक्षा-पद्धति की आड़ ले कर, यथासाध्य जीवन-संघर्ष से दूर रहने का प्रयत्न करता है। अपने पुत्र के लिए भी उसी शिक्षा-पद्धति का प्रबन्ध उसे अत्यन्त सन्तोष देता है और हम भी सुन्दरम् के साथ थोड़ी देर के लिए उस शिक्षा पद्धति की प्रभावहीनता को भूल जाते

हैं। उपन्यास में बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक के प्रारम्भिककाल, जबकि गाँधी जी का राष्ट्रीय आन्दोलन ज़ोर पकड़ रहा था और तीसरे दशक की मुद्रास्फीति आदि को स्पष्टता, सरलता और संयम के साथ चित्रित किया गया है। साधारण ढंग से ही श्री कुटुम्बराव ऐसे कई सामाजिक तथ्यों को प्रस्तुत कर देते हैं कि पाठक को उन्हें मानते ही बनता है।

तेलुगु उपन्यास साहित्य की इस विशिष्ट शाखा के अन्य प्रतिभावान लेखकों में चलम् ने समाज की विषमता पर गम्भीरतापूर्वक दृष्टिपात किया है। समकालीन समाज के समग्र चित्रण की अपेक्षा वे रूढ नैतिकता के सड़े-गले चित्र को ही प्रस्तुत कर पाये है। श्री जी. वी. कृष्णाराव ने ग्रामीण दृश्य का सुन्दर चित्र उपस्थित किया है किन्तु उसका निराशावाद, जो इक्के-दुक्के अनुभवों पर आधारित है, कभी-कभी पाठक को क्षुब्ध कर देता है। 'चिवरकुमिगिलेदि' (अन्त में क्या बचा ?) के लेखक श्री बुच्चिबाबू प्रतिभा-सम्पन्न तथा रसज्ञ कलाकार हैं जिनके मन में रूढिवादिता के प्रति प्रेम नहीं है।

अभी इस क्षेत्र में कई उदीयमान लेखक प्रयत्नशील हैं और जो सामग्री उपलब्ध है, वह निराशाजनक नहीं है। किन्तु एक समग्र उपन्यास अथवा आवश्यकता हो तो उपन्यासों की परम्परा की, जो राजनैतिक स्वतन्त्रता के बाद शीघ्रगति से परिवर्तनशील आन्ध्र समाज का तथा विभिन्न स्तरों पर मानव-व्यवहार या प्रवृत्तियों का चित्रण करने वाली हो, अभी प्रतीक्षा है। यह सामाजिक पक्ष आकुलता से किसी ऐसे प्रतिभावान लेखक की प्रतीक्षा कर रहा है जो उसके प्रति न्याय कर सके।

हास्यरसात्मक उपन्यास

श्री मोक्कपाटि नरसिंह शास्त्री

रागद्वेष से मुक्त हो कर, समाज से अलग रहते हुए, सामाजिक व्यवस्था को निष्पक्ष दृष्टि से देख सकें तो प्रत्येक विषय में हास्य की सामग्री उपलब्ध होगी। और यदि उस सामग्री को लेखक शब्दों का परिधान दे सके, तो वह रचना किसी भी समय के पाठक को अविस्मरणीय आनन्द दे सकेगी।

प्रारम्भ में समाज सुधार के साधन के रूप में गृहीत हास्यरसात्मक उपन्यास आज शुद्ध हास्य रचना के रूप में परिणत हो उत्कृष्ट बन रहा है।

'बैरिस्टर पार्वतीशम्' को तेलुगु हास्य का श्रेष्ठ उदाहरण माना जा सकता है।

तेलुगु में उपन्यास की रचना बड़े विलम्ब से प्रारम्भ हुई है। अर्थात् 19वीं सदी के आखिरी दशक में। उसी समय से तेलुगु भाषा तथा उसकी रचना-शैली में वैविध्य दृष्टिगोचर होने लगा। श्री वीरेशलिंगम् पन्तुलु ने कहानी, उपन्यास, नाटिका, नाटक, निबन्ध आदि की रचना करते हुए आधुनिक आन्ध्र वाङमय का श्रीगणेश किया है। इसके साथ ही तेलुगु के प्रथम हास्य उपन्यास का उन्हीं के हाथों रचा जाना बड़े हर्ष का विषय है। पन्तुलु जी द्वारा किये गये शेरिडान कृत नाटक के तेलुगु अनुवाद तथा मौलिक रूप से रचित अनेक प्रहसनों द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें हास्य के प्रति अधिक अनुराग है। उस समय तेलुगु में हास्यरस प्रधान रचना का अभाव देख कर, उस अभाव की पूर्ति के लिए पन्तुलु जी ने कुछ अनुवाद तथा कुछ मौलिक रचनाएँ कीं। उनमें प्रधान रचना है 'सत्यराज की पूर्व देश की यात्राएँ'। यह भले ही आज के अंग्रेज़ी अथवा आन्ध्र के उपन्यासों के रचना-शिल्प की समता न कर सकता हो, अथवा उपन्यास की परिभाषा की कसौटी पर खरा न उतरता हो फिर भी इसे उपन्यास कहने में कोई दोष नहीं है। यह उपन्यास न तो पूर्णतया स्वतन्त्र ही है और न अनुवाद ही। मेरा विचार है कि अंग्रेज़ी में जोनाथन स्विफ्ट की 'गुलीवर की यात्राएँ' नामक अद्भुत रचना को पढ़ने के बाद पन्तुलु जी ने अत्यन्त प्रसन्न हो कर सोचा होगा कि तेलुगु में भी इस प्रकार की रचना हो तो कितना अच्छा होगा और सम्भवतः इसी विचार से उन्होंने इस उपन्यास की रचना की होगी। जो भी हो, यह उपन्यास अनुवाद अथवा अनुकरण-सा नहीं लगता अपितु मौलिक रचना के समान अत्यन्त प्रभावशाली बन कर हमारा ध्यान आकर्षित करता है।

आन्ध्रप्रदेश में पैदा हो कर, यहीं सयाना हो कर, संस्कृत, आन्ध्र तथा ज्योतिष में प्रावीण्य प्राप्त करने वाला एक ब्राह्मण युवक, जो ब्रह्मचारी था,

देशभ्रमण की इच्छा से, किसी अच्छे मूहूर्त में दक्षिणदेश की ओर निकल पड़ता है। किसी भी तरह मद्रास पहुँचता है और वहाँ से 'आड़ मलयालम्' (स्त्रियों का राज) देखने की इच्छा से पुनः सुदूर दक्षिण की ओर बढ़ता है। रेल में धोखा खा कर खाली हाथ किसी गाँव में जा पहुँचता है। संयोग से वहाँ किसी मांत्रिक से परिचय प्राप्त कर, उनके मन्त्रोपदेश के प्रभाव से दुर्भेध्य रहस्यमार्ग द्वारा 'आड़ मलयालम्' पहुँच जाता है।

वहाँ का सारा वातावरण उसे पूर्णतः अपने देश के विपरीत प्राप्त होता है। हमारे देश की स्त्रियों की दुर्दशाएँ, जैसे रसोई घर में ही पड़ी रहना, बाजार न देख पाना, अपढ़ बनी रहना, अज्ञान के अन्धकार में फँसी रहना, प्रत्येक बात के लिए पति पर निर्भर रहना, पुरुषों के हाथ का खिलौना बन उसके हाथों नाना यातनाएँ सहते रहना आदि उस देश में पुरुषों के भाग्य में बदी थीं और वे सब अत्यन्त सहज तथा स्वाभाविक-सी अनुभव की जाती थीं। कुछ समय बाद वहाँ पुरुष-स्वातंत्र्य के लिए आन्दोलन शुरू होता है, जिसमें इस उपन्यास का नायक भी भाग लेता है। वहाँ कुछ स्त्रियाँ उस पर प्रेमसुधा बरसाने का प्रयत्न करती हैं, और वह उस आफ़त से बच निकलने का सफल प्रयास करता है। इन सब बातों का सरस वर्णन अत्यन्त सुन्दर शैली में इस उपन्यास में किया गया है।

जान बचा कर वहाँ से भाग निकलने वाला वह ब्रह्मचारी, वहाँ से घर न जा कर, लंका जाता है। वहाँ उसकी भेंट राक्षसों के समूह से होती है। वहाँ के राक्षस सुदीर्घ शरीर वाले और अपरिमित बलवान थे। उनके सामने अंगुष्ठ मात्र-सा लगता है कथा नायक! वहाँ के लोग उसे तोते के समान पिंजड़े में रखते हैं, उसी तरह पिंजड़े में रख सभाओं में ले जाते हैं, ज्योतिष में उसकी निपुणता देख कर उससे सलाह लेते हैं। इन आश्चर्यजनक विषयों का आकर्षक वर्णन इस उपन्यास में किया गया है। अंगूठे के समान होने पर भी उसकी किसी विशेषता को देख कर कोई राक्षस कन्या उससे प्रगाढ़ प्रेम कर, विवाह कर लेने का प्रयत्न करती है। बेचारा वह मूर्ख ब्राह्मण उस राक्षसी के विवाह-प्रयत्न को जान कर सहम उठता है और किसी तरह उनके हाथों से छूट कर अपने प्राणों को बचाने में सफल होता है। पन्तुलु जी ने इसका सुन्दर वर्णन किया है। उन्होंने इस उपन्यास के कथानक को बहुत आकर्षक तथा सशक्त रूप से प्रस्तुत किया है। किन्तु आज का प्रबुद्ध पाठक, इस रचना से अपेक्षित आनन्द प्राप्त कर पाने में असमर्थ है। पन्तुलु जी को प्रेरणा देने वाली

रचना—'गुलीवर की यात्राएँ' आज भी पाठकों को आनन्द-विभोर बना रही है। परन्तु तेलुगु की यह रचना वैसा आकर्षण न रखने के कारण आज उपेक्षित-सी हो गयी है। हास्यरचना की सफलता के लिए प्रथम आवश्यकता है भाषा की सरलता। अर्थात् वह रचना ऐसी होनी चाहिए कि शिक्षित समाज के साथ अशिक्षितों की भी समझ में आवे, और साधारण से साधारण पाठक भी उसे पढ़ कर रसानुभूति प्राप्त कर सके। पन्तुलु की रचना 'ग्रांथिक भाषा'[1] में लिखी होने के कारण और उसके सुललित हास्य के शब्द समूह की विद्वत्ता की ओट में पड़ जाने के कारण, वह पाठकों की पहुँच से परे हो गयी है। दूसरा कारण यह है कि पन्तुलु जी ने समाज सुधार को ही अपने जीवन का चरम लक्ष्य बनाया था और तत्सम्बन्धी विषयों को अपनी प्रत्येक रचना में स्थान दिया था। हास्य लेखक को सदा पक्षपात-रहित होना चाहिए। ऐसा न हो कर, अपनी कल्पना अथवा अपने मित्र के विचारों के अनुकूल समाज के निर्माण के विधान को व्यंजित करना हास्य लेखक के लिए अनपेक्षित है। यदि वह राग-द्वेष से मुक्त हो कर, समाज से अलग रहते हुए, सामाजिक व्यवस्था को निष्पक्ष दृष्टि से देख सके तो उसे प्रत्येक विषय में हास्य की सामग्री उपलब्ध होगी और यदि उस सामग्री को लेखक शब्दों का परिधान दे सके, तो वह रचना किसी भी समय के पाठक को अविस्मरणीय आनन्द प्रदान करने में समर्थ हो सकेगी। उपर्युक्त दोनों कमियों के कारण ही पन्तुलु जी की रचना का जितना समादर होना चाहिए था उतना नहीं हुआ। इसी प्रकार पद्य रूप में लिखे गये, 'अभाग्योपाख्यान' तथा 'वन्यमृग प्रहसन' नामक प्रौढ रचनाएँ साधारण पाठक के लिए मृगजल सिद्ध हुई हैं।

श्री वीरेशलिंगम् पन्तुलु के पश्चात् श्री चिलकमर्ति लक्ष्मीनरसिंहम् का ध्यान बरबस हो आता है। ये पन्तुलु जी के समसामयिक तथा समाज सुधार के आन्दोलन में उनके सहयोगी थे। ये संस्कृत और आन्ध्र भाषा के माने हुए विद्वान् थे। सहज और सरल कविता, लोकप्रिय नाटकों का प्रणयन एवं हास्ययुक्त सम्वाद रचना में ये अत्यन्त कुशल थे। उन्होंने कुछ प्रसहन और व्यंग्य-प्रधान नाटिकाएँ भी लिखी हैं। उस समय के समाज-सुधारक आन्दोलनों ने उन्हें हास्यरसात्मक उपन्यास प्रणयन की प्रेरणा दी और परिणाम-स्वरूप 'गणपति' नामक उपन्यास प्रकाश में आया। उन दिनों वह श्रेष्ठ हास्य-

1. ग्रन्थों की भाषा। पंडितों की क्लिष्ट शैली में लिखी गयी भाषा

रसात्मक उपन्यास के रूप में प्रसिद्ध और समादृत हुआ है। आज भी उसे पढ़ कर आनन्दित होने वाले पाठक थोड़ी-बहुत संख्या में हैं।

इस उपन्यास में परम्परागत दरिद्रता से पीड़ित ब्राह्मण कुटुम्ब में उत्पन्न गणपति नामक युवक की कथा है। गणपति के बचपन में ही उसके पिता स्वर्गस्थ हो जाते हैं। उनके पास न खाने को कुछ रहता है, न रहने को। उसके मामा उसे और उसकी माँ को कुछ दिन तक आश्रय देते हैं, पर गणपति के भोजन की मात्रा को देख कर डर जाते है और अपना रास्ता देख लेने के लिए उसे घर से निकाल देते हैं। कुछ दिन कहीं रसोई बना कर, कुछ दिन भीख माँग कर, तथा अन्य कष्ट झेल कर किसी प्रकार से माँ बेटे को बड़ा कर, उपनयन दिला, उसे अपने पाँवों पर खड़ा होने के लिए बिदा कर देती है।

गणपति बिना किसी अन्तर और विचार के सभी प्रकार के छोटे-बड़े काम करता रहा जैसे श्राद्ध-भोजन, शववाहन, वेश्याओं के नाटक में श्रीकृष्ण वेष का धारण, चटसार में अध्यापन आदि। वह दीन इतने कष्ट झेलता और इतने नीच कार्य करता है कि अपना उपमान स्वयं बन जाता है। 'उदर निमित्तं बहुकृतवेषम्' ही उसके आचरण का आधार है। बहुत विचार करने पर भी मेरी समझ में यह नहीं आया कि वह अभागा चिलकमर्ति तथा उनके समसामयिक पाठकों को हास्य निलय-सा कैसे दिखाई पड़ा। उसका अज्ञान और पेटूपन आदि तो हमारे मन में उसके प्रति दया ही उपजाते हैं, हास्य नहीं। किसी मनुष्य का आकार और विकृत चेष्टाएँ, हास्य को उत्पन्न करने वाली तो हैं, परन्तु वे किसी के लिए पीडाजनक नहीं होनी चाहिए। लक्षण-ग्रंथ-कर्ताओं ने भी इस बात को मान लिया है कि हास्य 'अक्रूर' होना चाहिए। मेहतर को देख क्या हम हँस सकते हैं! नहीं, उससे वह काम कराने वाली तो उसकी दरिद्रता है। उसके दारिद्रय को अपने लाभ के लिए उपयोग में ला कर, उसे वह घृणित काम सौंप कर उसके हाथ में कुछ थमा कर, फिर सफाई का काम करने वाले मेहतर के झाड़ू-बाल्टी वाले रूप को देख कर हँसना क्या न्याय्य है? यही काम हमारे बचपन में हमारी माता करती थी, तो क्या उसे देख कर हम हँस पड़ते थे? यही कारण है कि आज के प्रबुद्ध मानवतावादी पाठक को 'गणपति' पढ़ कर, हँसी नहीं आती। सभ्यता के विकास के साथ-साथ हास्य का स्वरूप भी बदलता रहता है। उन दिनों गणपति पेड़ों की आड़ में बैठ कर ढेले फेंक-फेंक कर पनघट पर आने

वालों के घड़े फोड़ देता था, धोबी घाट से गधों को पकड़ कर उन पर सवारी करता था। इस प्रकार की शरारतें करना आज के बालक जानते तक नहीं, करना तो दूर। अस्तु, कन्दुकूरि की रचनाओं के समान ही इस उपन्यास में निहित समाज सुधार की भावना और भी कष्टप्रद रूप में प्रत्यक्ष हो कर पाठक को संकट में डाल देती है। मेरे विचार से यह भावना हास्य को उत्पन्न नहीं होने देती। इसके साथ ही हास्य की उपलब्धि में सबसे बड़ी रुकावट है वह भाषा जो केवल ग्रंथों का ही विषय होती है।

श्री चिलकमर्ति ने 'गणपति' के समान ही 'दुन्दुभि' नामक एक और उपन्यास की रचना की है। 'गणपति' और 'दुन्दुभि' में कोई अन्तर नहीं है। गणपति पुरुष है, तो दुन्दुभि स्त्री है। गणपति जितना विकृत आकृति वाला है, दुन्दुभि भी वैसी ही है और उतनी ही दरिद्र भी है। पर इसकी कहानी अपूर्ण रह गयी है। उपन्यास का प्रथम भाग ही प्रकाशित हुआ है। दूसरा भाग लिखा गया या नहीं, लिखा गया तो प्रकाशित हुआ या नहीं, इसका पता नहीं है। पर, उसके न रहने का कोई अभाव हमें नहीं खटकता।

उन दिनों पिठापुरम् में श्री नेदुनूरि गणेश्वरराव नामक सम्पन्न गृहस्थ रहते थे। वे अत्यन्त सरस, सहृदय, साहित्यप्रिय और विशेष रूप से हास्य-प्रिय थे। उनके निकट बैठ कर, उनकी सरस उक्तियाँ सुनते हुए व्यक्ति समय और भूख-प्यास को भूल जाता था। वे साहित्य प्रेमी थे, लेकिन यह नहीं सुना था कि वे भी लेखक थे। एक दिन बातों ही बातों मे उन्होंने अपने 'लिखे 'लोकाभिरामायण' (शायद वही उसका नाम है) में से कुछ प्रसंग पढ़ कर सुनाये और मुझे एक प्रति भेंट स्वरूप दी थी। बाद में प्रयत्न करने पर भी वह पुस्तक फिर देखने में नहीं आयी। उस रचना को उपन्यास तो नहीं कहा जा सकता किन्तु आंग्ल विद्या के प्रभाव के कारण बिगड़ कर पतित होने वाले ब्राह्मण समाज पर सुदीर्घ तथा परिहास युक्त आलोचनात्मक लेख उसे अवश्य कहा जा सकता है।

श्री भोगराजु नारायणमूर्ति श्री गणेश्वरराव से कुछ छोटे और मुझसे कुछ बड़े थे। वे विजयनगरम् रियासत के दरबारी कवि और स्थानीय कालेज में तेलुगु के प्राध्यापक थे। उन्होंने अपनी युवावस्था में ही 'विमलादेवी' नामक उपन्यास की रचना कर, आंध्र विज्ञान मंडली के पुरस्कार को प्राप्त किया था। वे अत्यन्त हास्यप्रिय व्यक्ति थे। उन्होंने 'पंडुग कट्नम' (त्यौहार का पुरस्कार) नामक सुन्दर तथा सरस काव्य की रचना की थी। सामाजिक

इतिवृत्त पर आधारित उस काव्य को वे पद्यकाव्य के रूप में रचित उपन्यास कहते थे। मेरे विचार में उनके अनुयायियों और प्रशंसकों द्वारा उस रचना को उसी रूप (उपन्यास) में अंगीकार करना ग़लत न होगा।

शरभराजु नामक अत्यन्त लोभी, दुराशा के कारण अपनी बेटी सीतम्मा का विवाह किसी एक वृद्ध के साथ करने का निश्चय कर लेता है। लेकिन उसकी पत्नी और पुत्री को यह रिश्ता पसन्द नहीं आता। परन्तु वह अपने निश्चय पर अटल रह कर, मुहूर्त आदि का निश्चय कर रिश्तेदारों को सूचना दे देता है। इतने में मानसिक वेदना के कारण सीतम्मा बीमार पड़ जाती है। डाक्टरनी उसकी परीक्षा कर निश्चय करती है कि यह रोग शारीरिक नहीं, मानसिक है। माँ लड़की को अपने मामा के पुत्र में अनुरक्त जान कर उसे बुलाने की सलाह देती है। उसे निमंत्रित करते हुए पत्र लिखा जाता है। इतने में एक स्वामी जी आते हैं और यह ज़िद पकड़ कर उनके यहाँ डेरा डालते हैं कि चरण पूजा कराये बिना नहीं जाऊँगा। इस झंझट से बचने के लिए शरभराजु घर में छिप कर बैठ जाता है। तभी शरभराजु की पत्नी के मन में एक विचार आता है। वे बाल-विवाह के दिन थे। (रजस्वला के बाद कन्या का विवाह करने पर परिवार का हुक्का-पानी बन्द कर दिया जाता था।) इसलिए वह झूठ-मूठ पति से कहती है कि लड़की सयानी हो गयी है। यदि अब भानजे के साथ उसकी शादी न की गयी तो जग हँसाई होगी। इससे डर कर शरभराजु अपने भानजे के साथ उसकी शादी कर देता है। इस प्रकार इतिवृत्त को सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है। हास्य सरल और सरस है।

श्री नारायणमूर्ति की रचना के साथ हास्य रचना में नूतनता आयी और शैली परिष्कृत हुई। विचित्र हास्य रस पूरित घटनाओं को चुन कर कथासूत्र में पिरोकर उन्हें काव्य का परिधान पहनाया और अश्लीलता से बचाते हुए व्यावहारिक भाषा में प्रस्तुत कर अपनी विशिष्टता प्रदर्शित की। हास्य के लिए आपने तेलुगु शब्दों के साथ अंग्रेज़ी शब्दों का प्रचुरता से मिश्रण किया है। इस प्रकार के 'भाषा-सांकर्य' से साधारणतः हास्य की उत्पत्ति नहीं होती और यदि होती भी है तो उसे उत्तम नहीं माना जाता। किन्तु श्री नारायण मूर्ति ने पूज्य और वयोवृद्ध श्री गुरजाड़ा अप्पाराव के चरण चिह्नों का ही अनुकरण किया है। उनका वह प्रयोग उस समय के लिए नया और विचित्र तो था ही, उत्कृष्ट मनोरंजन का साधन भी था।

श्री नारायणमूर्ति के छह-सात वर्ष बाद अपूर्व, नूतन, आकर्षक, समादरणीय तथा आनन्ददायक रूप में हास्य ने 'बैरिस्टर पार्वतीशम्' नामक आत्मकथा के माध्यम से प्रत्यक्ष हो कर, अशेष आंध्र जनता का सम्मान प्राप्त किया। इस उपन्यास के सम्बन्ध में 'नव्यांध्र साहित्य वीथुलु'[1] नामक आलोचनात्मक ग्रंथ में तथा 'तेलुगु हास्य'[2] नामक पुस्तक में दिये गये मन्तव्यों का उल्लेक मात्र कर देना ही पर्याप्त होगा।

"श्री मोक्कपाटि नरसिंह शास्त्री लोकजीवन में होने वाले सामान्य विषयों को यथातथ्य रूप में चित्रण करने में अतीव कुशल हैं। ये हास्य के पर्याय हैं अर्थात् कोमल हास्य के साहिती समिति के प्रारम्भिक दिनों में ही इनकी लिखी हुई 'पिलका' (चुटिया) नामक कहानी पढ़ कर हँसी रोके नहीं रुकती थी। इनका स्वभाव ही हास्यमय है अतः इनके साथ बातें करने में ही हास्य के अतिरेक के साथ आनन्द की प्राप्ति होती है। इंग्लैण्ड से लौटने वाले देशी जनों की पकड़ में न आने वाली बातों में मोक्कपाटि सर्वाधिक निपुण हैं और साथ ही 'मैं इंग्लैण्ड जा कर आया हूँ', 'मैंने यह महान् कार्य किया है', ऐसा सोचने और करने वालों की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ हैं। वर्तुल आकृति, नाटा कद, सुस्पष्ट उच्चारण युक्त मुस्कुराती हुई मुख मुद्रा इनकी विशेषताएँ हैं। 'बैरिस्टर पार्वतीशम्' का प्रथम संस्करण १९२५ ई. में ही छप गया था और वह उस समय से ले कर आज तक पाठकों का मनोरंजन करता आ रहा है। उसमें 'शहर का होटल' पार्वतीशम् की मूर्खतापूर्ण चेष्टाएँ आदि के स्मरण मात्र से पाठक ठठा उठते हैं। पार्वतीशम् जैसे भोले-भाले आदमी की सृष्टि कर आंध्र जनता का मनोरंजन करना और किसी से सम्भव न हो सका और यही विशेषता इन्हें उच्चकोटि के उपन्यासकारों में स्थान देने में समर्थ है। यह सदा पाठकों को उत्साहित करने वाला उपन्यास है। नरसिंह शास्त्री को साहित्य के इतिहास में शाश्वत स्थान दिलाने के लिए यह एक ही रचना पर्याप्त है। कुछ लोग इस उपन्यास के नाम पर ही उन्हें 'बैरिस्टर पार्वतीशम्' के नाम से अभिहित करते हैं।

हास्य प्रधान पात्र का सर्जन, कथासूत्र का निर्वहण, पदे-पदे अस्वाभाविकता का निदर्शन, अकल्पनीय विकृति का दिग्दर्शन, और सतत् भूलों का परिचय देते हुए भी अन्त में पूर्णतः स्वाभाविकता का बोध कराने वाली

1. आचार्य श्री कुरुगंटि सीतारामय्या कृत आलोचनात्मक ग्रंथ।
2. श्री मुट्नूरि संगमेशम् का पुरस्कार प्राप्त पुस्तक।

अतीव कुशलता के साथ लिखी गयी पुस्तक है 'बैरिस्टर पार्वतीशम्'। इस पात्र से अपरिचित शायद ही आंध्र-प्रदेश में कोई है। पार्वतीशम् लन्दन जा कर बैरिस्टरी की परीक्षा पास करने की लालसा तथा अदम्य उत्साह से युक्त सनातन आंध्र ब्राह्मण परिवार का युवक है। अंग्रेजी शिक्षा के साथ प्राप्त होने वाले कई सद्गुणों का इसमें अभाव है। आज की सारी सभ्यता उसके लिए अजनबी है। जिसने कभी रेल भी न देखी हो, ऐसा युवक जब घर से निकल पड़ता है, तब स्वभावतः उसे पग-पग पर विपरीत परिस्थितियों का सामना कर मूर्ख बना पड़ता है और तब उसे लगता है कि मानो उल्टी गंगा ही बह रही हो। रेल में उसका व्यवहार, जहाज में उसकी यातनाएँ, मद्रास आदि नयी जगहों पर उसकी उलझनें, सब इतनी कुशलता के साथ वर्णित हैं कि पाठक तादात्म्य स्थापित कर स्तब्ध-सा रह जाता है। अनेक स्थानों पर हँसी से लोट-पोट हो जाना भी आवश्यक हो जाता है। एक घटना से अधिक हास्यप्रद रूप में दूसरी घटना का चित्रण कर श्री शास्त्री जी ने अनुपम हास्य कृति के रूप में इस उपन्यास के माध्यम से अपने सफल कृतित्व को उपस्थित किया है। कभी-कभी नितान्त अपरिचित वातावरण, वस्तु, सम्पर्क आदि में हमारा व्यवहार अज्ञान-जनित भूलों के कारण हास्यास्पद हो उठता है और इसी को आधार बना कर पार्वतीशम् की कथा में आदि से अन्त तक हास्य का पोषण किया गया है। यह उपन्यास प्रारम्भ में अस्वाभाविक लगता हुआ भी अन्त में पूर्णतः स्वाभाविक-सा प्रतीत होने लगता है। एक भूल दूसरी का कारण बन कर ऐसी श्रृंखला उत्पन्न करती है कि मानो प्रत्येक घटना एक-दूसरे में गुंथी हुई हो और इस प्रकार अपूर्व रूप में कथानक का विकास हुआ है। पार्वतीशम् स्वभावतः मूर्ख नहीं है, परिस्थितियाँ उसे मूर्ख बना कर उसका मजाक उड़ाती रहती हैं। सम्भवतः पार्वतीशम् की अपेक्षा हमने कहीं अधिक ऐसी अवस्थाओं का अनुभव किया हो। इसीलिए इस पात्र के साथ हमारी ममता, प्रेम तथा सहानुभूति बनी रहती है। और इसीलिए शायद यह पात्र हमारी राष्ट्रीय सम्पत्ति बन गया है। हम गिरीशम्[1] के सम्पर्क को सह नहीं सकते पर पार्वतीशम् को छोड़ कर रह नहीं सकते। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि इस क्षेत्र में (आंध्र उपन्यास क्षेत्र में) पार्वतीशम् अकेला अपने ढंग का पात्र है। इस लेखक ने अपनी सभी रचनाओं के माध्यम से सरस हास्य की सृष्टि की है। और यही इनकी विशिष्टता है।

---

1. 'कन्याशुल्कम्' नामक नाटक का नायक।

मोक्कपाटि के ही समसामयिक हैं श्री मुनिमाणिक्यं नरसिंहराव। नरसिंहराव जी भी सुप्रसिद्ध हास्य लेखक हैं। इन्होंने उपन्यास कहने योग्य कोई रचना भले ही न की हो, फिर भी 'उपाध्यायुडु' (अध्यापक) 'कान्तम् कैफियतु' (कान्तम की खबरें), 'कान्तम् जीवितम्' (कान्तम का जीवन) 'कान्तम् वृद्धाप्यम' (कान्तम् की वृद्धावस्था) आदि रचनाओं को न पढ़ने वाला और पढ़ कर आनन्द प्राप्त न करने वाला आंध्र में नहीं है, इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं है। इनका हास्य अतीव सहज तथा सरस है। कोई कथा या उसका कोई भी पृष्ठ पढ़ें—उसमें अपूर्व एवं अविस्मरणीय हास्य नूतन वधू की लज्जा-तरंगों के समान छलकता दिखाई देगा।

इन लेखकों के दो दशक के बाद श्री कोडवटिगंटि कुटुम्बराव रचना-क्षेत्र में आये। ये संस्कृत, आन्ध्र तथा अंग्रेज़ी आदि भाषाओं के अच्छे ज्ञाता हैं। इस मेधावी ने असंख्य हृदयंगम कथाएँ, नवलिकाएँ (छोटे उपन्यास) और नाटिकाएँ लिखी हैं तथा लिख रहे हैं। हास्य लेखक की सम्पूर्ण विशेषताएँ इनमें हैं। पक्षपात रहित बुद्धि, सूक्ष्म परिशीलन, विवेकयुक्त आलोचन शक्ति इनमें प्रचुर मात्रा में है। इनकी प्रज्ञा साथियों के सुख-दुःख, राग-द्वेष, स्वनिर्मित समाज तथा उसके संयमन नियमों के कारण उत्पन्न कष्ट आदि का भली-भाँति अवगाहन कर, आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से उनका परिशीलन-अनुशीलन कर, अत्यन्त सहानुभूति पूर्वक पात्रों की सृष्टि करने में समर्थ हुई है। किन्तु आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़े बिना, स्थूल दृष्टि की पहुँच के परे है उनका हास्य! 'सभ्यता के विकास के साथ विनोद-वृत्ति भी विकसित होती है' यह सिद्धान्त श्री कुटुम्बराव की रचनाओं के लिए सत्य है। 'कोत्त कोडलु' (नई बहू), कोत्त अल्लुडु (नया दामाद) 'लेचिपोयिन मनिषि' (भटकी हुई औरत), 'बेदिरिन मनुष्युलु' (घबराए मनुष्य), 'ब्रतुकु भयम्' (जीवन का भय) आदि रचनाओं को मात्र एक बार पढ़ने वाला उन्हें हास्य रचनाएँ नहीं मानता। इनमें हास्य इतनी गहनता से अनुस्यूत है कि कई बार पढ़ कर भी पाठक यह पूछने पर बाध्य हो जाता है कि आखिर इनमें हास्य है कहाँ?

कई लोगों को यह भी मालूम न होगा कि हास्य का भी एक क्रम तथा एक पद्धति होती है। साधारण तौर पर आदत के अनुसार जिन आचार-व्यवहारों का आचरण किया जाता है यदि उन्हीं को थोड़ा बहुत बदल कर अथवा उनके विरुद्ध कोई (पात्र) आचरण करें, तो पाठक पहले वृद्ध दम्पत्ति के समान चौंक उठता है, पर शीघ्र ही उस अवस्था से मुक्त हो कर क्षण भर

के लिए सोचने और हँसने पर विवश हो जाता है। श्री कुटुम्बराव ने 'कोत्त कोडलू' तथा 'कोत्त अल्लुडु' में इसी पद्धति का अनुसरण किया है और यह शैली अत्यन्त सफल रही है। आन्ध्र के विवाह विधान में पहली बात है, वर का वधू को देखने आना। इस रचना में स्वयं कन्या ही वर के घर यह पूछती हुई आती है कि सुना है यहाँ कोई दूल्हा है, जो मुझ से शादी करना चाहता है। सवेरे-सवेरे आयी हुई उस कन्या को देख कर घर भर के लोग हड़बड़ा उठते हैं। वर की माता उसी क्षण निश्चय कर लेती है कि जो हो यह कन्या मेरी बहू नहीं बन सकती। धीरे-धीरे वह इस अवस्था में पहुँच जाती है कि जहाँ उसका मन प्रश्न करता है कि यह मेरी बहू न बनी तो क्या होगा ? कथा बड़ी सुन्दर तथा आकर्षक गति से बढ़ती है किन्तु कहीं हँसी नहीं आती। परन्तु वही पुस्तक दो दिन बाद पुनः पढ़ने पर रचना सौन्दर्य, चमत्कार और हास्य को इस प्रकार अभिव्यक्त करने लगती है कि हम चमत्कृत हो जाते हैं।

'कोत्त अल्लुडु' में भी यही शिल्प-विधान दृष्टिगोचर होता है।

'लेचिपोयिन मनिषि' में अतीव बुद्धिमान व्यक्ति, दूसरे दो व्यक्तियों को धोखा देने का षड्यन्त्र रच कर, अन्त में स्वयं ही धोखा खा जाता है। दूसरों के लिए खोदे गये गड्ढे में स्वयं ही गिर कर, हास्य का कारण बन जाता है आदि कथानक है।

'बेदिरिन मनुष्युलु', 'ब्रतुकु भयम्' मे मानव स्वभाव को दूर्बीन द्वारा विशद कर दिखाया गया है। इन रचनाओं में अधिकतर लोगों की अनिश्चित स्थति (कोई निश्चय न कर पाने की मानसिक स्थिति) कायरता, इन दोनों को प्रकट न कर पाने की बेबसी के कारण प्रदर्शित कपट कार्य दीक्षा, दिखावे का गाम्भीर्य, कितनी ही ठोकरें खा कर भी न चेतना, सब कुछ भूल कर धूल झाड़ कर चल देना आदि 'दासी जन मनः प्रवृत्ति, का प्रभावशाली ढंग से चित्रण किया गया है। उन पात्रों की हरकतें देख कर हमारे मुख पर किंचित् मुस्कान आ जाती है और हृदय करुणा से ओत-प्रोत हो जाता है तथा यह स्थिति बता देती है कि यही उत्तम हास्य है।

श्री जलसूत्रम् रुक्मिणीनाथ शास्त्री का 'देवय्या' भी हास्य रसात्मक आत्मकथा है।

इन लेखकों के बाद आज के युवा लेखकों में उल्लेखनीय हैं श्री मुळ्ळपूडि वेंकटरमण। वे आज की पीढ़ी के युवकों में अग्रणी हास्य रचयिता के रूप

में प्रसिद्ध हुए हैं। वेंकटरमण की 'बुड्गू' (मुन्ना), 'ऋणानन्द लहरी' (ऋण के आनन्द की लहरियाँ), 'इद्दरम्मायिलु–मुग्गुरब्बायिलु' (दो लड़कियाँ–तीन लड़के) आदि विद्वज्जन प्रशंसित एव लोकप्रिय है।

श्री वेंकटरमण की रचनाओं में विस्तृत इतिवृत्त, कल्पना अथवा चरित्र-चित्रण नहीं होता। फिर भी पुस्तक इतनी रोचक होती है कि पाठक हाथ में ले कर समाप्त किये बिना उसे नहीं छोडता। प्रत्येक वाक्य हास्य रस से भरा रहता है। शब्दों के साथ खिलवाड़ करना उन्हें खूब आता है और उनके शब्द-शिल्प को देख कर कहना पड़ता है कि उस विद्या में ये अद्वितीय हैं। शब्दों में कुछ वर्णों को बदलना अथवा वाक्यों के शब्दों में हेरफेर करना, साधारण शब्दों के लिए नये अर्थ का स्फुरण कराना, पुरानी कहावतों को नये रूप में प्रयोग करना आदि तरह-तरह के चमत्कार दिखा कर पाठकों को आनन्द सागर में डुबो देने की अद्वितीय शक्ति भी एक साथ वेंकटरमण मे ही है। न जाने वह दिन कब आएगा जब ये अवकाश प्राप्त कर बृहद् उपन्यास की रचना में प्रवृत्त होकर आन्ध्र के ओडहाउस बनेंगे।

वास्तव में देखा जाए तो अब तक तेलुगु में कोई अच्छा हास्य प्रधान उपन्यास नहीं लिखा गया है। इसके कारण है, जीवन को समुचित दृष्टिकोण से न देख सकना, जीवन की गहराइयों में पैठ कर परिशीलन न करना, जीवन के अनाडीपन अथवा अस्तव्यस्त परिस्थतियों पर ध्यान न दे पाना, आदि। अपनी सीमित परिस्थितियों (वातावरण) में ऊभचूभ होते हुए, इससे परे भी कोई विशाल जगत् है, जो इस जगत् से ऊँचा है और उसका कारणभूत तत्व अपने में ही है, इस बात को समझ न पाना भी हमारे लेखकों के हास्य सृष्टि न कर सकने का कारण है। थोड़ा धैर्य धारण करें, तो मेरा विचार है कि ये परिस्थितियाँ बदल जाएँगी, अज्ञान मिट जाएगा और विज्ञ लेखक हास्य रचनाएँ कर सकेंगे। मैं आशावादी हूँ। अतः मुझे विश्वास है कि मेरी यह आन्तरिक कामना भले ही आज साकार न हो पर एक दिन होगी अवश्य।

जासूसी उपन्यास

श्री कोडवटिगंटि कुटुम्बराव

जासूसी साहित्य सामान्य जनता में पढ़ने की आसक्ति को बढ़ाने मे समर्थ है। ठीक ढंग से लिखा गया जासूसी उपन्यास दिमाग़ को तेज़ बना सकता है। साहित्य की अभिरुचि का प्रथम सोपान अद्भुत रस ही जासूसी साहित्य का आधार है।

साठ वर्ष पूर्व से तेलुगु में जासूसी उपन्यास लिखे जा रहे हैं। परन्तु प्राय: सभी रचनाएँ दूसरी भाषाओं के अनुवाद अथवा अनुकरण मात्र हैं।

विश्व साहित्य में पहली जासूसी कथा 'कथासरित्सागर' में उपलब्ध है। संक्षेप में वह कथा इस प्रकार है :

कोई ब्राह्मण गाँव के बाहर जंगली तुरई की बेल की जड़ में कुछ सोना छिपा कर रख देता है। उसे कोई चुरा ले जाता है। राजा उस ब्राह्मण से पूछ-ताछ करता है और मर्म की एक बात जान लेता है कि सोने के साथ वह बेल भी ग़ायब हो गयी है। उसके आधार पर राजा इस निर्णय पर पहुँचता है कि उस बेल के लिए जो व्यक्ति गया था, उसी ने सोना चुराया है। जंगली तुरई की बेल से वैद्यों को ही काम पड़ता है। इसलिए राजा अपनी अस्वस्थता की घोषणा करता है और नगर के सभी वैद्यों को बुलाता है। पता लगाता है कि पिछले दिन जंगली तुरई की बेल की भावना से औषधि किसने बनायी है। और अन्त में रहस्य खुल जाता है कि किसने सोना चुराया है।

यह माना जा सकता है कि कथासरित्सागर और उसकी मातृरूपा बृहत्कथा के समय तक संसार भर में और कहीं जासूसी कहानी लिखी नहीं गयी होगी। यह नहीं कहा जा सकता कि आज हमारे यहाँ 'डिटेक्टिव' कथाएँ लिखने वालों में कितनों को यह मालूम है कि हमारे प्राचीन साहित्य में भी एक 'डिटेक्टिव' कथा है। किन्तु यह कहा जा सकता है कि हमारी भाषा (तेलुगु) में लिखे गये प्रायः सभी जासूसी उपन्यास दूसरी भाषाओं के अनुवाद तथा अनुसरण मात्र हैं।

जहाँ तक मैं जानता हूँ, आज से लगभग साठ साल पूर्व से तेलुगु में जासूसी उपन्यास लिखे जा रहे हैं। प्रारम्भ में जो उपन्यास आये वे 'पाँच-कौडिदेव' जैसे बंगाली लेखकों की रचनाओं के अनुवाद हैं। इनमें अद्भुत रस की मात्रा अधिक और जासूसी कम है। जासूस अत्यधिक श्रम कर कई प्रमाण एकत्रित करता है, किन्तु वे अपराधी का पता लगाने में किंचित् भी

सहायक नहीं होते। जासूस स्वयं कई बार कष्टप्रद पिंजड़े में फँस दुर्दशा का शिकार होता है। यह केवल उत्सुकता के लिए है। किन्तु अन्त में जब उसे विजय प्राप्त होती है, तो लगता है, वह संयोग से ही प्राप्त हुई है, उसमें जासूस के व्यक्तित्व का कोई महत्त्व नहीं है।

इसके अतिरिक्त ऐसा लगता है कि जासूस तथा उसके प्रतिद्वन्द्वी 'खलनायक' में कई असाधारण शक्तियाँ हैं। साधारण मानव जो कार्य नहीं कर सकता, वह काम वे आसानी से कर सकते है।

लगता है कि जासूसी उपन्यास लिखने वालों को रसायन शास्त्र सम्बन्धी कई अन्धविश्वास हैं। उन रसायनों से खलनायक अति आश्चर्यजनक कार्य कर लेता है। किन्तु उन रसायनों के नाम नहीं होते।

बहुत समय तक ऐसे उपन्यास अन्य कई भाषाओं से तेलुगु में अनूदित होते रहे हैं। 'मायावी', 'मनोरमा', 'मायाविनी', 'पेटिकान्तरशव', 'भूतगृह' आदि उपन्यास इसी कोटि के है। इस प्रकार के उपन्यासों में 'मयसभा', 'पगटिचुक्का' (दिन का तारा), 'कन्नपु दोंगा' (सेंधिया चोर) आदि आन्ध्रों द्वारा लिखे हुए उपन्यासों के भी नाम लिये जा सकते हैं।

उपर्युक्त उपन्यास प्रथम उत्थान की देन है। कुछ समय के बाद ये भी पुराने पड़ गये हैं। इसका कारण यह है कि इनकी अपेक्षा कुछ अच्छा जासूसी साहित्य पश्चिमी साहित्य के प्रभाव से आया। शर्लाक होम्स की कीर्ति हमारे देश मे भी आयी। होम्स संसार भर में प्रसिद्ध है। होम्स की सृष्टि करने वाले कॉनन डायल ने डिटेक्टिव साहित्य को उत्तम साहित्य की कोटि तक पहुँचाया। (यद्यपि डायल ने यह कभी स्वीकार नहीं किया कि वह उत्तम साहित्य है!)

होम्स की कथाओं तथा उपन्यासों को साहित्यिक गौरव प्राप्त होने का कारण यह है कि उनमें यथार्थ जीवन के दर्शन होते हैं। अपराधियों के अनैतिक व्यवहार के बलवान कारण भी उनमें दिखाई देते हैं। जासूस की बुद्धि-कौशल की परीक्षा लेने के लिए अपराधी अपराध नहीं करते। अपराध के पीछे कोई न कोई रहस्य अवश्य रहता है। उस रहस्य का पता लगाना जब दूसरों के लिए असाध्य-सा हो जाता है, तब जासूस अपनी विशिष्ट शक्तियों का प्रयोग करता है।

होम्स की कथाओं के सभी अपराधी साधारण व्यक्ति ही हैं। होम्स में भी मानव-सुलभ दुर्बलताएँ दिखाई पड़ती हैं। ऐसे कई प्रसंग हैं, जहाँ वह

राह भटक कर फिर से ठीक मार्ग पर आता है। एक कहानी में तो ऐसा भी होता है कि होम्स अपने से बुद्धिमान पुलिस अधिकारी से मिलता है और उसकी सहायता लेता है।

यदि जासूसी उपन्यासों को भी साहित्य का एक अंग माना जाए तो मैं कह सकता हूँ कि होम्स के उपन्यासों से बढ़ कर श्रेष्ठ जासूसी साहित्य मैंने पढ़ा ही नहीं है। पर, पता नहीं क्यों होम्स के उपन्यास तेलुगु में अधिक संख्या में अनूदित नहीं हुए। 'दि हाउँड आफ़ बास्कर विल्स' नामक उपन्यास का अनुकरण करते हुए एकाध लेखक ने उपन्यास लिखे हैं।

पाश्चात्य जासूसी उपन्यास साहित्य में अब नया युग चल रहा है। इनमें रहस्य (मिस्टरी) और उत्सुकता (सस्पेन्स) की प्रधानता है। हत्याएँ या अन्य अपराध करने वाले, लगता है केवल अपनी प्रतिभा दिखाने के लिए ही ये काम कर रहे हैं। इन उपन्यासों में सामाजिक मूल्य तो नाम मात्र के लिए भी नहीं होता। किन्तु इस प्रकार के उपन्यासों की रचना करने के लिए विशिष्ट रचना-शक्तियों की आवश्यकता है। यह सच है कि इन उपन्यासों को पढ़ने वालों को ऐसी तृप्ति मिलती है, जो किसी अन्य साहित्यिक प्रक्रिया से नहीं मिलती।

इस आधुनिक पाश्चात्य उपन्यास साहित्य को प्राप्त प्रोत्साहन के कारण हाल में तेलुगु में जासूसी साहित्य की बाढ़-सी आयी है। सामान्य जनता में पढ़ने की आसक्ति बढ़ रही है और उसका पूरा-पूरा लाभ उठा रहा है जासूसी साहित्य।

यदि अद्‌भुत रस को साहित्य की अभिरुचि का प्रथम सोपान माना जाए, तो अन्तिम सोपान होगा वास्तविकता। इसीलिए जिनमें अभी-अभी पढ़ने की सशक्ति उत्पन्न हुई है, उनके लिए जासूसी उपन्यास सर्वाधिक रोचक, रहे हैं और यही कारण है कि जिन्होंने कभी तेलुगु में एक वाक्य भी नहीं लिखा और न लिख पाने में समर्थ हैं, वे भी जासूसी उपन्यास लिखने लग गये हैं और उपन्यासकार बन गये हैं। इन सब बातों के परिणाम स्वरूप अतीव परिहास के योग्य रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं। कुछ लेखकों को पश्चिमी जासूसी उपन्यास समझ में नहीं आए, कुछ लेखकों को 'कॉपी' (नकल) करना नहीं आया। और कुछ लेखकों ने एक ही मूल ग्रंथ को अपनी प्रतिभा का आधार बना कर अनुसरणात्मक रचनाएँ प्रस्तुत कीं। किन्तु बिना मूल्यांकन

के ही उस बाढ़ में सभी प्रकार के जासूसी उपन्यास हाथों हाथ बिक गये। कुछ लेखक और प्रकाशकों ने खूब पैसा भी अर्जित कर लिया।

किन्तु अब जासूसी उपन्यास-प्रेम की यह बाढ़ कम हो गयी है। कहा जा सकता है कि जासूसी उपन्यासों के बिना मतलब के उत्थान ने ही, आगे चल कर उनके पतन का मार्ग प्रशस्त किया है। हर एक पान की दुकान वाला आने-दो आने में जासूसी उपन्यास को किराये पर देने लगा। परिणामस्वरूप जासूसी उपन्यासों की बिक्री कम हो गयी। हो सकता है कि युगीन चेतना के कारण पाठकों में भी विवेक-शक्ति बढ़ी हो और उनकी आसक्ति जासूसी उपन्यासों में बहुत हद तक कम हो गयी हो।

जासूसी उपन्यासों को व्यर्थ का साहित्य नहीं माना जा सकता। ठीक ढंग से लिखा गया जासूसी उपन्यास दिमाग़ को तेज़ बना सकता है। वह कहने योग्य किसी साहित्यिक प्रयोजन के न होने पर भी समय काटने के काम में आता है। किन्तु तेलुगु में आए जासूसी उपन्यासों में 99% इस प्रकार के नहीं हैं। अच्छी तरह जासूसी उपन्यास लिखने के लिए भी कुछ ज्ञान, प्रज्ञा और उपज्ञा चाहिए। परन्तु कहना पड़ता है कि इन तीनों से युक्त कोई जासूसी उपन्यास तेलुगु में आया ही नहीं। यद्यपि एकाध लेखक ने मौलिक ढंग से जासूसी उपन्यास लिखा है, किन्तु सस्ते जासूसी उपन्यासों की बाढ़ में उसकी कोई गिनती ही नहीं हुई।

यह सच है कि तेलुगु साहित्य-क्षेत्र में जासूसी उपन्यास का आविर्भाव तो हुआ किन्तु उसने जड़ नहीं जमायी। वह चार दिन की चाँदनी हो कर मिट गया।

अब तो प्रवाह राजकीय गुप्तचर (एजेंट) कथाओं की ओर है। इस प्रकार की कथाओं को भी हमारे लेखकों को दूसरे साहित्यों के अनुकरण पर ही लिखना पड़ रहा है। लगता है कि मौलिक ढंग से इस प्रकार की कथाओं के लिखे जाने का बिलकुल अवसर ही नहीं है और न इस दिशा में कोई गतिशील ही है।

कुछ प्रमुख उपन्यास :–१

राजशेखर चरित्रमु

डा. अक्किराजु रमापतिराव

आधुनिक आन्ध्र साहित्य के युगपुरुष श्री वीरेशलिंगम् पन्तुलु कृत, तेलुगु का प्रथम उपन्यास है 'राजशेखर चरित्रमु' जिसे तेलुगु का गौरव स्तम्भ माना जाता है।

'विकार आफ़ द वेकफील्ड' से प्रभावित होते हुए भी पन्तुलुजी ने शत प्रतिशत तेलुगु वातावरण एवं आन्ध्र की सामाजिक व्यवस्था के चित्रण से परिपूर्ण, पूर्णतः मौलिक उपन्यास की सृष्टि की है। समाज सुधार के दृष्टिकोण से लिखा गया 'राजशेखर चरित्रमु', तेलुगु का प्रथम सामाजिक उपन्यास है।

परवर्ती उपन्यासकारों के लिए मार्गदर्शिकाभूत इस रचना का तेलुगु साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

रावबहादुर कन्दुकूरि वीरेशलिंगम् पन्तुलु का जन्म अप्रैल 1848 को राजमहेन्द्रवरम् में हुआ था। समकालीन समाज में परिव्याप्त कुप्रथाओं, विकृत सिद्धान्तों तथा अन्धविश्वासों का खण्डन कर, समाज में अनेक परिवर्तन ला कर, पन्तुलुजी 'युग पुरुष' की उपाधि से विभूषित हैं। 19वीं शती के उत्तरार्ध में तेलुगु देश के जनजीवन में जो परिवर्तन आये, विकास की जो नयी दिशाएँ खुल पड़ीं, उन सब का श्रेय श्री वीरेशलिंगम् पन्तुलु को ही है।

भारत देश के इतिहास में राजा राममोहनराय का जो स्थान है, वही स्थान आन्ध्र देश के इतिहास में श्री वीरेशलिंगम् पन्तुलु का है। राजा राममोहनराय की मृत्यु के 15 वर्ष पश्चात् श्री वीरेशलिंगम् का जन्म हुआ। पन्तुलु जी से पूर्व ही धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में अनेकों आन्दोलनों का बीजारोपण हो चुका था। पन्तुलु जी ने उन सब सुधारवादी आन्दोलनों को सफल बनाया। साहित्य को अपना साधन बना कर समाज सुधार का प्रयत्न कर उसमें सफल होना, श्री वीरेशलिंगम् की विशिष्टता है। आन्ध्रदेश में समाज सुधारक तथा साहित्यकार दोनों रूपों में पन्तुलु जी का स्थान महत्त्वपूर्ण है। तेलुगु साहित्य को सुसम्पन्न करने वाले तथा नाटक, उपन्यास, कवि जीवनी, साहित्यिक आलोचना, निबन्ध, विज्ञान सम्बन्धी रचना आदि सभी नवीन साहित्यिक विधाओं का श्रीगणेश करने वाले पन्तुलु जी ही हैं।

उन्होंने सन् 1878 में अपनी 'विवेक वर्द्धिनी' नामक पत्रिका में धारावाहिक रूप से 'राजशेखर चरित्रमु' को प्रकाशित किया था।[1] इसका दूसरा नाम 'विवेक चन्द्रिका' है। यह तेलुगु का प्रथम उपन्यास है। प्रारम्भिक दशा में उपन्यास को 'वचन प्रबन्ध' कहते थे। अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से देशी भाषाओं में सम्पन्न नूतन विधा के रूप में उपन्यास को मान लें तो राजशेखर चरित्रमु' को आन्ध्र का प्रथम उपन्यास मानना होगा। किन्तु कुछ लोग

1. सन् 1880 में यह पुस्तकाकार में प्रकाशित हुआ था।

संस्कृत के 'कादम्बरी', 'वासवदत्ता', आदि रचनाओं को तथा तेलुगु के 'कळा-पूर्णोदयम्' आदि प्रबन्ध काव्यों को जिनमें कलात्मक कथा का प्राधान्य है, 'उपन्यास' का पूर्व रूप मानने के पक्ष में हैं। इसलिए इन कल्पना प्रधान काव्यों के वचन (गद्य) रूप ही प्रारम्भिक दशा में 'वचन प्रबन्ध' कहला कर, कालक्रम से अंग्रेज़ी साहित्य से प्रभावित हो कर 'उपन्यास' कहलाए है। अपने इस सिद्धान्त के समर्थन में, वे इस तर्क को प्रस्तुत करते हैं कि मराठी तथा गुजराती में आज भी उपन्यास को 'कादम्बरी' कहा जाता है। वैसे देखा जाए तो 'उपन्यास' गद्य रचना है। इसका पूर्व रूप 'वचन प्रबन्ध' भले ही हो, किन्तु साहित्य में इसका आविर्भाव अंग्रेज़ी साहित्य के सम्पर्क के प्रभाव से ही हुआ है। इसलिए पन्तुलुजी की रचना के कोई दस-बारह वर्ष पूर्व (सन् 1867 में) श्री कोक्कोंडा वेंकटरत्नम् पन्तुलु द्वारा रचित 'महाश्वेता' को जो संस्कृत 'कादम्बरी' के महाश्वेता के वृत्तान्त का अनुवाद मात्र है, तेलुगु का प्रथम उपन्यास नहीं माना जा सकता। कादम्बरी के महाश्वेता वृत्तान्त को यथातथ्य रूप में अनुवाद करने के अतिरिक्त श्री वेंकटरत्नम् ने अपनी रचना में कोई परिवर्तन नहीं किया है। तेलुगु साहित्य के प्रबन्ध काव्य के लक्षणों की दृष्टि से देखें तब भी अनुवाद 'प्रबन्ध' नहीं कहला सकता। किन्तु कुछ आलोचकों का मत है कि संस्कृत में कादम्बरी प्रबन्ध है, इसलिए उसका तेलुगु अनुवाद 'वचन प्रबन्ध' होगा, इसलिए तेलुगु में प्रथमतया उपन्यास रचना का प्रयत्न करने वाले श्री कोक्कोंडा वेंकटरत्नम् पन्तुलु ही है। इसी प्रकार वीरेशलिंगम् पन्तुलु की रचना के छः वर्ष पूर्व (सन् 1872 में) नरहरि गोपालकृष्णम्मा सेट्टी के 'रंगराज चरित्र' को कुछ आलोचक तेलुगु का प्रथम उपन्यास मानते हैं। किन्तु 'रंगराज चरित्र' पर अंग्रेज़ी का कोई प्रभाव नहीं है। इतिवृत्त पूर्णतया मौलिक तथा कल्पित है। लेखक ने स्वयं लिखा है कि ऐतिहासिक वातावरण को आधार बना कर, हिन्दुओं के आचार-विचारों का वर्णन करने के लिए इस नवीन ग्रंथ की रचना की है। बंगाल के उस समय के गवर्नर लार्ड मेयो ने 'गजट' में एक घोषणा की थी कि बंगालियों के आचार-विचारों का वर्णन करते हुए लिखे गये वचन काव्य को पुरस्कार प्रदान करेंगे। उस समय कर्नूल में डिप्टी कलक्टर के पद पर विराजमान श्री नरहरि गोपालकृष्णम्मा सेट्टी ने उस विज्ञापन को देख, तेलुगु में उस प्रकार के वचन काव्य को लिखने की प्रेरणा प्राप्त की और 'सोनाबाई परिणयमु' (जिसका दूसरा नाम 'रंगराज चरित्रमु' है) नामक 'वचन प्रबन्ध' की रचना की। इसलिए कहा जाता है कि श्री वीरेशलिंगम् के पूर्व ही उपन्यास रचना

के प्रयास का प्रारम्भ हुआ है। किन्तु आज जिन लक्षणों को उपन्यास के लिए आवश्यक मानते हैं, वे न तो 'महाश्वेता' में हैं न 'रंगराज चरित्र' में ही। अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में वे लक्षण 'राजशेखर चरित्रमु' में परिलक्षित होते हैं। इस उपन्यास पर आलीवर गोल्डस्मिथ के 'विकार आफ़ द वेक फ़ील्ड' का प्रभाव है। किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि यह अनुवाद नहीं है। अंग्रेज़ी साहित्य के प्रभाव के साथ-साथ अनेक कल्पित अंगों से युक्त होने के अतिरिक्त श्री चिलकर्माति लक्ष्मीनरसिंहम् आदि सुप्रसिद्ध उपन्यासकारों के लिए 'राजशेखर चरित्रमु' का ही मार्गदर्शक होना और स्वयं वीरेशलिंगम् पन्तुलु का यह कथन कि मैंने ही तेलुगु में प्रथम वचन प्रबन्ध की रचना की है, यह सिद्ध करते हैं कि तेलुगु का प्रथम उपन्यास—उपन्यास के सभी लक्षणों से युक्त—'राजशेखर चरित्रमु' ही है। 19वीं शती के आन्ध्र प्रदेश की सामाजिक व्यवस्था के समग्र प्रतिबिम्ब के रूप में इस उपन्यास की रचना हुई। गोल्डस्मिथ के 'विकार आफ़ द वेककील्ड' का अनुसरण करने पर भी, निस्सन्देह कहा जा सकता है कि पन्तुलु जी ने मौलिक उपन्यास की सृष्टि की है। शत प्रतिशत तेलुगु वातावरण, आन्ध्र की सामाजिक व्यवस्था आदि का इस उपन्यास में अत्यन्त सरल शैली में चित्रण किया गया है। परवर्ती उपन्यासकारों के लिए मार्गदर्शक बन, उन्हें प्रभावित करने वाली इस रचना का तेलुगु साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

'राजशेखर चरित्रमु' में 15 अध्याय हैं। कथा के निर्माण में 'विकार आफ़ वेक फ़ील्ड' से काफ़ी साम्य है, फिर भी पन्तुलुजी ने इतिवृत्त के विकास का निर्वाह अतीव मौलिक ढंग से किया है। इस कारण अंग्रेज़ी के उस उपन्यास और 'राजशेखर चरित्रमु' में साम्य की अपेक्षा विभिन्नताएँ ही अधिक दृष्टिगोचर होती हैं।

धवळेश्वरम् नामक क़स्बे में गोटेटि राजशेखरम् नामक सम्पन्न गृहस्थ हैं। उस गाँव के ज्योतिषी, रामशास्त्री आदि चाटुकार सदाराजशेखरम् की खुशामद कर, उनसे पैसा ऐंठते रहते हैं। राजशेखरम् अपनी प्रशंसाएँ सुन फूलकर, पैसा बहाने वाले स्वभाव के हैं। ज्योतिषी, रामशास्त्री, नंबि राघवाचार्य आदि उस गाँव के लोगों के अतिरिक्त दूसरे गाँवों के लोग भी राजशेखरम् के यहाँ आते हैं और दो-तीन दिन उनके यहाँ रह कर सत्कार ग्रहण कर जाते हैं। दूर-दूर के सम्बन्धी भी कोई न कोई रिश्ता जोड़ कर उनके यहाँ आते हैं और महीनों रह कर, जाते समय नये कपड़े और पुरस्कार ले जाते हैं। धवळगिरि में हनुमान के मन्दिर बनाने के प्रयत्न में राजशेखरम् काफ़ी पैसा ख़र्च करते रहते हैं। राजशेखरम् का साला दामोदरय्या पत्नी के मर जाने पर दूसरी शादी कर, राजशेखरम् की सहायता पर ही उस गाँव में निवास करता रहता है। दामोदरय्या की प्रथम पत्नी की सन्तान, शंकरय्या अपने मामा राजशेखरम् के

घर में ही रहता है। राजशेखरम् ने अपनी बड़ी लड़की रुक्मिणी का विवाह किया था, पर उसका पति बुरी संगति में फँस, घर छोड़ कहीं चला गया था। उनकी इच्छा है कि दूसरी लड़की सीता का विवाह अपने भानजे शंकरय्या के साथ कर दें। उनकी चाची की लड़की सुब्बम्मा, विधवा होने के कारण उन्हीं के घर में रहा करती है। इतने में उस गाँव में स्वर्णविद्या जानने वाला एक वैरागी आता है। उस गाँव में अफ़वाह उड़ती है कि वह वैरागी किसी भी धातु को सोना बना सकता है। सुब्बम्मा के कुछ अस्वस्थ होने पर राजशेखरम् उस वैरागी को अपने घर बुलाते हैं। वह राजशेखरम् के घर में रहता हुआ सबको यह विश्वास दिलाता है कि घर के चाँदी और सोने को मिला कर सोना बनाऊँगा। एक दिन वह घर का सारा सोना और चाँदी ले भागता है। गाँव के जनार्दन स्वामी के मन्दिर में रथोत्सव के समय रुक्मिणी के गले के हार को कोई चुरा ले जाता है। दूसरे दिन चुरायी गयी वस्तु का पता बताने का बहाना कर हरिशास्त्री नामक ढोंगी आता है और काफ़ी पैसे ऐंठ ले जाता है। उसके दूसरे ही दिन कोई आ कर समाचार देता है कि रुक्मिणी के पति का देहान्त हो गया है। घर भर के लोग दुःख-सागर में डूब जाते हैं। बेचारे राजशेखरम् कष्टों से घिर जाते हैं। व्यर्थ के आडम्बर तथा खुशामदियों के छलकपट से वे निर्धन हो जाते हैं। कर्ज़दारों के तकाज़े भी शुरू हो जाते हैं। थोड़े दिनों में राजशेखरम् की स्थिति ऐसी हो जाती है, मानो जिस गाँव में वे फूल बेच रहे थे, वहीं उन्हें लकड़ियाँ बेचना पड़े। रुक्मिणी कुछ बीमार पड़ जाती है, तो मांन्त्रिक राजशेखरम् को विश्वास दिलाता है कि मृत पति ही भूत बन कर उसे सता रहा है। कुछ झाड़-फूंक कर, छलकपट रच वह राजशेखरम् से पुरस्कार पा कर भी सन्तुष्ट न हो कर घर में रही सही सामग्री चुरा ले जाता है। राजशेखरम् उस गाँव में अपनी दुर्दशा को सहन नहीं कर सकते। वहाँ उनसे रहा नहीं जाता। तब वे मानसिक शान्ति के लिए पुण्य-क्षेत्रों के दर्शन के लिए निकल पड़ते हैं। राजमहेन्द्रवरम् आ कर वहाँ चाचा के पुत्र राममूर्ति के यहाँ कुछ दिन रह जाते हैं। उस समय राजमहेन्द्री के निकट के पुण्यक्षेत्रों के दर्शन कर लेते हैं। उसके बाद वे काशी की यात्रा के लिए निकल पड़ते हैं। यात्रा करते समय राजानगर के समीप किसी क्षत्रिय को लू लग जाती है और वह बेहोश हो जाता है। राजशेखरम् उसकी सेवा-शुश्रूषा करते हैं। उसका नाम है रामराजु। वह थोड़ी दूर तक उनका साथ देता है और फिर अपने मार्ग चला जाता है। उसके बाद एक दिन रात को नल्ल चेरुवु (काला तालाब) नामक तालाब के किनारे कुछ लुटेरे राजशेखरम्

को लूट लेते हैं। लुटेरों की मारपीट से रुक्मिणी मर जाती है। इस कारण वे काशी यात्रा छोड़, पेद्दापुरम् में टिक जाते हैं। जिस क्षत्रिय की उन्होंने सेवा चिकित्सा की थी, वह कभी-कभी आ कर उनके कुशलक्षेम का पता लगाता रहता है। पेद्दापुरम् के लोगों की मूर्खता और छलकपट देख कर, राजशेखरम्, निकट के दूसरे गाँव भीमवरम् चले जाते हैं। वहाँ वे राजा के सम्बन्धी तथा कारागृहों के अधिकारी शोभनाद्रिराजु को प्रसन्न कर, कुछ नौकरी प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। उनके पुत्र सुब्रह्मण्यम् अपने परिवार की दु:स्थिति देख कर पिठापुरम् चले जाते हैं, नौकरी की तलाश में। शोभनाद्रि के आश्रय में रह कर, उसके अत्याचारों में सहयोग देने वाला है मंचिराजु पापय्या। उसके पुत्र के साथ अपनी पुत्री सीता का विवाह कर देने के लिए राजशेखरम् को शोभनाद्रि राजी कर लेता है। पापय्या और उसका पुत्र पद्मराजु अत्यन्त दुष्ट हैं। विवाह का मुहूर्त निश्चित होता है। ठीक मुहूर्त के समय रामराजु एक झूठे पत्र की सृष्टि करके कि राममूर्ति मर गया है, शादी रुकवा देता है। राजशेखरम् बड़े दुखी होते हैं कि जिसका उपकार किया था, वही अब अपकार कर रहा है। किन्तु उन्हें यह मालूम नहीं था कि पापय्या और उसका पुत्र दोनों ही परम नीच हैं। अपनी बात नहीं मानी, इस क्रोध से शोभनाद्रि राजशेखरम् को जेल में डलवा देता है। इतने में सीता को कोई चुरा ले जाता है। सुब्रह्मण्यम् को पिठापुरम् में राजा के दरबार में नौकरी मिल जाती है। वहाँ नीलाद्रिराजु नामक सम्पन्न व्यक्ति से उसका परिचय हो जाता है। वह सुब्रह्मण्यम् से मित्रता का ढोंग कर पिठापुरम् के दुर्ग की सारी बातों का पता लगा कर, एक दिन कोषागार को लूट लेता है। दोष सुब्रह्मण्यम् पर आता है। वह अनेक प्रयत्न कर, नीलाद्रिराजु को गिरफ़्तार कर, राजा की सारी सम्पत्ति को फिर से कोषागार में पहुँचा देता है। धवळेश्वरम् में अपने घर में चुराये गये चाँदी-सोने के गहने और सामान भी नीलाद्रि के यहाँ मिल जाते हैं। राजशेखरम् भीमवरम् के जेल में पड़े दुखी थे। इतने में मंचिराजु पापय्या भी किसी कारण जेल में डाल दिया जाता है। उस समय वह अपने षड्यन्त्र को बतला देता है और कहता है कि यदि पेद्दापुरम के महाराज कृष्णगजपति महाराज को आवेदन पत्र भेज सकें तो वे पेशी सुन कर, रिहा कर सकते हैं। राजशेखरम् उसी प्रकार आवेदन पत्र भेजते हैं। जाँच पड़ताल होती है। तब राजशेखरम् को पता लगता है कि रामराजु और कोई नहीं, स्वयं महाराज हैं, जो अपनी प्रजा के हाल-चाल का पता लगाने वेष बदल कर घूमते रहते हैं। आश्चर्य चकित हो राजशेखरम् उनसे क्षमायाचना कर लेते हैं।

इसके पूर्व ही सीता को चुरा ले जाने वाले चोरों को सजा दे कर, जग्गमपेट से रामराजु उसे घर पहुँचाते हैं। चोरों की मार-पीट से रुक्मिणी मरती नहीं, बेहोश हो जाती है। आधी रात गये, वह होश में आ जाती है और युवा स्त्रियों का अकेला रहना उचित न समझ कर, पुरुषवेष धारण करती है और गहने बेच खाती हुई जग्गमपेट के पटवारी के घर में सुब्बारायुडु के नाम से रहती है। वे रुक्मिणी को पुरुष ही मान लेते हैं। सीता को चुराने वाले चोरों का जग्गमपेट आने पर, वह अपनी बहन सीता को पहचान लेती है। अपने परिवार की दुर्दशा जान कर, रामराजु के साथ भीमवरम् आती है। वहाँ अपने माता-पिता को अपनी कहानी सुना कर विस्मय तथा आनन्द में डाल देती है। इतने में रुक्मिणी का पति नृसिंह स्वामी भी आ जाता है। वह अपने सास-ससुर को बतलाता है कि देश-भ्रमण करते समय अपने मित्र के साथ मनमुटाव पैदा हो कर, पैसे के बारे मे झगड़ा हो गया था। इसलिए शायद उसी ने मृत्यु की झूठी खबर दी हो। इतने में सुब्रह्मण्यम् सोने-चाँदी के गहने और राजा के दिये हुए पुरस्कार ले कर माता-पिता के पास आ जाता है। जग्गमपेट का पटवारी सुब्बारायडु की खोज में भीमवरम् आता है। उसकी इच्छा थी कि अपनी इकलौती पुत्री का विवाह सुब्बारायुडु से करे। जब पता लगता है कि रुक्मिणी ही सुब्बारायुडु है, तो वह हताश हो जाता है। तब राजशेखरम् सुब्रह्मण्यम् के साथ उसकी पुत्री का विवाह कर देने के लिए मान जाते हैं। शादी हो जाती है। उसके बाद पेद्दापुरम् के महाराज, राजशेखरम् का सत्कार कर, पर्याप्त धन दे कर, धवळेश्वरम् भेज देते हैं। धवळेश्वरम् आ कर राजशेखरम् अपने भानजे शंकरय्या के साथ सीता का विवाह धूम-धाम से करते हैं। इस बीच शंकरय्या का पिता दामोदरय्या मान्त्रिक के रूप में कुछ लोगों का अपकार कर कुत्ते की मौत मरता है। राजशेखरम् की हालत को सुधरते देख खुशामदी फिर उन्हें घेर लेते हैं किन्तु अब वे विवेक से काम लेते हुए, समाज के दोषों तथा कुरीतियों का विरोध करते हुए उन्हें सुधारने के प्रयत्न में समय बिताने लग जाते हैं।

"राजशेखर चरित्रमु" तथा "विकार आफ़ वेक फ़ील्ड" के इतिवृत्त में थोड़ा-बहुत साम्य होने पर भी, पन्तुलु ने अपनी रचना प्रधानतया समाज सुधार को दृष्टि में रख कर की है। अंग्रेज़ी के उपन्यास में साहित्य सौन्दर्य प्रधान है। उस में समाज सुधार की भावना का एक दम अभाव है। राजशेखर चरित्रमु" पन्तुलुजी की मौलिक प्रतिभा का उज्जवल प्रमाण है।

कुछ आलोचकों का कथन है कि "राजशेखर चरित्रमु" की "विकार आफ़ वेक फ़ील्ड़" से तुलना करने पर, पन्तुलुजी की मौलिक प्रतिभा कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती, उन्होंने यथातथ्य रूप में अंग्रेज़ी उपन्यास का अनुवाद-सा कर दिया है, मूल रचना के दोष भी उसी रूप में आ गए है और रस-पोषण तथा चरित्र चित्रण ठीक से नहीं हो पाए हैं। हम कह सकते हैं कि यह आलोचना सहृदयतापूर्ण नहीं है। "राजशेखर चरित्रमु" को आदि से अन्त तक भलीभाँति पढ़ लेने पर ही पन्तुलुजी की मौलिक प्रतिभा का आभास मिल सकता है।

इस उपन्यास के इतिवृत्त में जहाँ-जहाँ हो सके, समाज की समस्त कुप्रथाओं की आलोचना की गयी है। झाड़-फूंक, धर्माधिकारियों की अनीति, दुराचार, ग्रहण, शकुन, चटसार की पढ़ाई, त्यौहार, बाल विवाह, वैधव्य की दुर्दशा, स्वर्ण योग, जादू-टोना, कुक्षिभर लोगों की खुशामदें, वेश्याओं के अनर्थ, सरकारी अधिकारियों के अनुचित व्यवहार आदि सभी विषयों की अति सूक्ष्म आलोचना की गयी है। हम निस्संकोच का सकते हैं कि आन्ध्र साहित्य का पहला सामाजिक उपन्यास "राजशेखर चरित्रमु" ही है।

इस उपन्यास की महत्ता एक और बात से मालूम हो जाती है। उन दिनों श्रीकाकुलम् के ईसाई पादरी रेवरेंड हच्चिसन ने भाग्य चक्र, के नाम से इस उपन्यास का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया है। यह अनुवाद मद्रास के क्रिस्टियन कालेज़ मैगज़ीन में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ था और तदुपरान्त लंदन में पुस्तकाकार में प्रकाशित हुआ है। सन् १८८७ में "लन्दन टाइम्स" ने इस पुस्तक की समीक्षा करते हुए श्री वीरेशलिंगम् पन्तुलु की रचना शक्ति तथा व्हील आफ़ फ़ार्चून के मूल "राजशेखर चरित्रमु" की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। आज से ८० वर्ष पहले तेलुगु के लेखक का "लंदन टाइम्स" द्वारा प्रशंसित होना क्या हमारे लिए गर्व का कारण नहीं है? उन दिनों मद्रास नगर में दादाभाई नौरोजी की अध्यक्षता में पन्तुलुजी का अभिनन्दन कर, "दक्षिण के विद्यासागर" की उपाधि से उन्हें सम्मानित किया गया था। यह तेलुगु साहित्य की शाश्वत प्रतिष्ठा का कारण है।

धन्यजीवी पन्तुलुजी युग पुरुष हैं। मानवतावादी हैं। श्री देवुलपल्लि कृष्णशास्त्री ने एक स्थान पर कहा है कि "यदि आधुनिक आन्ध्र साहित्य अखंड़-गोदावरी है, तो श्री वीरेशलिंगम् नासिकात्र्यंबक के समान हैं।" उस महनीय तेजोमूर्ति के बारे में और अधिक क्या कहा जाए?

कुछ प्रमुख उपन्यास–2

मालपल्लि

डा. भण्डारम् भीमसेन जोस्यल

'मालपल्लि' आंध्र के ग्रामीण जीवन के विकास क्रम को काव्योचित रूप में प्रस्तुत करने वाला अन्यतम उपन्यास है। यह जन साहित्य का सजीव तथा सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस रचना को सामाजिक अभिलेख का महत्त्व प्राप्त है।

गाँधी जी के महान् सिद्धान्तों तथा अनासक्त कर्मयोग की विजय के व्यावहारिक रूप का दिग्दर्शन कराते हुए यह उपन्यास मानव-जीवन के लिए श्रेष्ठ आदर्श प्रस्तुत करता है।

समकालीन समाज में व्याप्त सामाजिक राजनीतिक, धार्मिक आदि परिवर्तनों के परिज्ञान अथवा दिग्दर्शन के लिए यदि साहित्य को श्रेष्ठ साधन माना जाए तो 20वीं शती के प्रारम्भिक कतिपय दशकों के आंध्र जन-जीवन का समग्र चित्र प्रस्तुत करने वाली श्रेष्ठ रचना है 'मालपल्लि'। यह आंध्र के ग्रामीण जीवन के विकास क्रम को काव्योचित रूप में प्रस्तुत करने वाला अन्यतम उपन्यास है। इस उपन्यास में वर्णित 'सेटलमेंट' (सुधार केन्द्र), जेल, अदालत, पाठशालाएँ, पुलिस, खादी धारण, असहयोग, धार्मिक लूट-खसोट, स्वराज्य आन्दोलन आदि विषयों से सम्बद्ध अनेकानेक विवरण इस रचना को 'सामाजिक अभिलेख' (Social document) का महत्व प्रदान करते हैं। यह जन साहित्य का सजीव तथा सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। उस समय की सरकार ने 'मालपल्लि' पर प्रतिबन्ध लगाया था, इसी से इस उपन्यास की राष्ट्रीय महत्ता और चेतना का बोध होता है। आंध्र के इस सुप्रसिद्ध उपन्यास के लेखक हैं प्रसिद्ध देश भक्त नेता श्री उन्नव लक्ष्मीनारायण।

श्री उन्नव लक्ष्मीनारायण का जन्म गुन्टूर ज़िले के सत्तेनपल्लि तालूका के 'वेमुलूरुपाडु' में सन् 1873 में हुआ था। आंध्र क्रिश्चियन कालेज, गुन्टूर में एफ़० ए० तक शिक्षा प्राप्त कर, आपने वकालत का अध्ययन किया और वहीं कई वर्ष तक वकालत करते रहे। सन् 1913 में आयरलैंड के डब्लिन नगर से बैरिस्टर की उपाधि प्राप्त की। वहीं आयरलैंड के स्वतन्त्रता-आन्दोलन के नेता डीवेलरा से श्री लक्ष्मीनारायण का परिचय हुआ। उस देश के स्वतन्त्रता-आन्दोलन ने उन्हें खूब प्रभावित किया। विदेश से लौट कर बैरिस्टरी में श्री लक्ष्मीनारायण ने खूब नाम और धन कमाया। सन् 1920 से महात्मा गान्धी जी के आदेशानुसार असहयोग आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया और कई बार जेल यात्रा की। जेल-जीवन से परिपुष्ट उनके विस्तृत अनुभव 'मालपल्लि' के रूप में, जेल में ही प्रस्तुत और परिवर्धित हुए।

श्री वीरेशलिंगम् की प्रेरणा से श्री लक्ष्मीनारायण ने स्त्री-जनोद्धार के लिए अनेक सराहनीय कार्य किये जिनमें प्रमुख विधवाओं के लिए आश्रम की स्थापना, विधवा विवाह को सामाजिक स्तर पर प्रोत्साहित करना आदि हैं। स्त्रियों में विद्या प्रचार के लिए उन्होंने गुन्टूर में 'शारदा-निकेतन' की स्थापना की जो आज भी उनकी कीर्तिपताका बन, उनके यश को चारों ओर फैला रहा है। आंध्र के सामाजिक क्षेत्र में सुधार लाने वालों तथा राजनीतिक जागृति उत्पन्न करने वालों में श्री लक्ष्मीनारायण अग्रगण्य हैं।

'मालपल्लि' के अतिरिक्त श्री लक्ष्मीनारायण की अन्य रचनाओं में 'नायकुरालु', 'भावतरंगमुलु', 'स्वराज्य सोदे', (सोदे=भविष्यवाणी) आदि उल्लेखनीय हैं। उनकी अन्तिम रचना 'तिक्कना' है। यदि काल के कराल गाल से लेखक कुछ समय तक सुरक्षित रहते तो निश्चय ही यह प्रौढ़तम रचना सिद्ध होती। अस्तु, अपनी सद्यः प्रसूता कृति को उसके शैशव में ही अनाथ कर, सम्पूर्ण मानवायु का उपभोग कर तथा जनहित कार्यों में ही उसे व्ययित कर वाणी का यह वरद पुत्र सन् 1958 में दिवंगत हुआ।

शासकीय तथा सामाजिक क्षेत्र में अनयपूर्ण जीवन का समग्र एवं सजीव चित्र प्रस्तुत करने वाला, आंध्र वाङ्मय का सर्व समादृत बृहदकाय उपन्यास 'मालपल्लि' है। इसका दूसरा नाम 'संगविजयमु' है। कथा नायक रामदास तथा संगदास के आदर्शों की विजय से परिपूर्ण इस उपन्यास का द्वितीय नाम अधिक सार्थक है। 'मालपल्लि' का संक्षिप्त इतिवृत्त इस प्रकार है :—

'मंगलापुरम्' ग्राम की 'मालपल्लि' (हरिजनों की बस्ती) का मुखिया है रामदास। 'माला' (अस्पृश्य) होने पर भी वह सुशिक्षित, स्थितप्रज्ञ एवं राजयोगी है। उसकी पत्नी महालक्ष्मम्मा आदर्श भारतीय नारी है। उनके तीन पुत्र—वेंकटदास, संगदास और रंगडु और एक पुत्री है। ज्येष्ठ वेंकटदास सच्चा किसान पर विद्रोही स्वभाव का युवक है। संगदास गान्धी जी के सिद्धान्तों में अटल विश्वास रखने वाला एवं उन सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने में तन, मन, धन की बाजी लगाने वाला है। वह गाँव के मुखिया चौधरय्या के यहाँ नौकरी करता रहता है। रामदास की पुत्री ज्योति सरल तथा आदर्श स्वभाव वाली कन्या है जो अपने चरित्र बल से समग्र उपन्यास को ज्योतित करती रहती है। रामदास की बहन का पुत्र अप्पादास आदर्श युवक है। अप्पादास तथा ज्योति में बचपन से ही स्नेह पनपता रहता है।

इस मुख्य कथा के साथ उपन्यासकार ने चौधरय्या के परिवार की कथा का भी आकलन स्वभाव वैषम्य आदि के प्रदर्शनार्थ किया है। चौधरय्या क्रूर तथा लोभी स्वभाव का है और उसकी पत्नी लक्ष्मम्मा अतीव उदार तथा स्नेही है। आरम्भ में सन्तान के अभाव में वह सम्बन्धियों में से एक बालक को गोद लेता है। परन्तु इसके कुछ समय बाद उसे पुत्र प्राप्ति हो जाती है और उसका नामकरण होता है रामानायुडु । दत्तक पुत्र वेंकटय्या और रामानायुडु दोनों ही बड़े हो कर, कलत्रवान बन, खेती बाड़ी में अपने पिता की सहायता करते हैं। रामानायुडु इसी समय पुत्र लाभ करता है और उसका नाम रखा जाता है गोपीकृष्ण ।

रामदास अपने परिश्रम और भलमनसी के कारण चार-पाँच एकड़ जमीन का स्वामी बन खेती बाड़ी का काम करता रहता है। उसका परिवार बड़ा है और उसी प्रकार उत्तरदायित्व भी। अपना उत्तरदायित्व निभाते हुए वह अपने गृहस्थी के कामों से फुरसत पा कर, वेदान्त की चर्चाओं में मन लगाता है। यथा समय वह गुरु से दीक्षा भी ग्रहण करता है। ऐहिक विषयों के प्रति उसका दृष्टिकोण अलिप्त-सा है।

रामदास चांडाल कहलाने वाले अपनी जाति के लोगों के उद्धार के लिए प्रयत्नशील रहता है। उसके मतानुसार उन लोगों की दुरवस्था के दो प्रधान कारण है—दरिद्रता और अज्ञान। उसका पुत्र संगदास अपने पिता के अभिप्रेत कार्य की सफलता के लिए तन, मन से प्रयत्नशील रहता है। वह हरिजनोद्धार-आन्दोलन में सक्रिय भाग लेता है, सभा-सम्मेलनों में जाता है और वहाँ भाषण आदि दे कर निज जनों को प्रबुद्ध बनाने का प्रयत्न करता है। अपने मालिक चौधरय्या के पुत्र रामानायुडु को वह अपने व्याख्यान तथा व्यवहार से प्रभावित करता है। संगदास की कार्यनिष्ठा तथा आदर्शों के कारण रामानायुडु उस पर लट्टू हो जाता है और धीरे-धीरे उन दोनों में घनिष्टता बढ़ने लगती है। रामानायुडु का एक हरिजन (संगदास) के साथ मिल-जुल कर रहना चौधरय्या को अच्छा नहीं लगता क्योंकि इससे उसका 'अहम्' आहत हो जाता है।

चौधरय्या, पटेल और निकट के दूसरे गाँवों के कुछ भूस्वामी मिल कर षड्यन्त्र करते हैं कि खेतों में काम करने वाले मज़दूरों को अनाज की जगह पैसे दिये जाएँ, किन्तु मज़दूरों के नेता इस बात को स्वीकार नहीं करते। गाँवों में इस बात को ले कर बड़ी खलबली मचती है। मज़दूरों का

पक्ष ले कर संगदास चौधरय्या को समझाने का निष्फल प्रयत्न करता है। एक दिन वह अपने साथ रामानायुडु को भी खेत पर काम करने ले जाता है। वहाँ सब कुछ स्वयं देख कर रामानायुडु मज़दूरों की दुर्दशा से खिन्न हो उठता है। इस पर चौधरय्या और भी नाराज़ हो जाता है और सोचता है कि इस हरिजन की संगति से रामानायुडु बिगड़ता जा रहा है अतः जैसे हो इन्हें पृथक् करना ही चाहिए। हरिजनोद्धार सम्बन्धी सभाओं में भाग लेने के लिए दूसरी ओर रामानायुडु को संगदास विजयवाड़ा ले जाता है। वहाँ संगदास अपने वाक्चातुर्य से सभी को मुग्ध कर देता है। सोमयाजुलु जैसे पुरातन-पन्थी भी उसकी बातों से प्रभावित होते हैं। इन व्याख्यानों के माध्यम से लेखक ने वर्णाश्रम व्यवस्था, ग्राम निर्माण-पद्धति, स्वशासन की उत्तमता आदि का सविस्तार वर्णन किया है।

इस सभा का परिणाम होता है सर्वविधि जागरूकता और जागरूक अनायास कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। अतः मज़दूर भी काम पर जाने से इनकार कर देते हैं। खेतों पर काम रुक जाता है। चौधरय्या क्रोधावेश में संगदास के सिर पर हेंगी दे मारता है और वह बेचारा वहीं ढेर हो जाता है। चौधरय्या इस अप्रत्याशित घटना से डर कर घर में छिप जाता है। पटेल, पटवारी आदि पन्तुलु के द्वारा चौधरय्या से ख़ूब पैसे ऐंठते हैं और इस हत्याकाण्ड को दबा देते हैं। रामदास और उसकी पत्नी महालक्ष्मम्मा रो-धो कर, उसकी अन्त्यक्रिया कर देते हैं। वे पुलिस में रपट करना उचित नहीं समझते और सब कुछ ईश्वर पर छोड़ देते हैं।

संगदास की अन्त्येष्टि के बाद 'मंगलापुरम्' में संगदास की समाधि बनायी जाती है और ग्रामीणों द्वारा उसी के निकट 'संगपीठम्' की स्थापना होती है। वहाँ हरिजनों की शिक्षा-दीक्षा का सुन्दर प्रबन्ध किया जाता है। रामदास मजदूरों के बच्चों के लिए पाठशाला चलाता है तो अप्पादास रात के समय मज़दूरों की शिक्षा का प्रबन्ध अपने ऊपर ले लेता है। रामानायुडु अपनी पुस्तकें तथा पत्रिकाएँ 'संगपीठम्' से सम्बद्ध पुस्तकालय को भेंट कर देता है। उस संस्था की सुव्यवस्था से आकर्षित हो कर, गाँव के उच्चवर्णी लोग भी वहाँ आने लगते हैं।

यद्यपि चौधरय्या हत्या करके साफ़ बच जाता है तथापि वह रामदास के समाज-सुधारक कार्यक्रम को अच्छी नजर से नहीं देख पाता। पुराने काग़ज़ पत्र निकाल कर, षड्यन्त्र रच कर, रामदास के खेतों पर अभियोग चलाता

है। दुर्भाग्य से रामदास उस अभियोग में हार जाता है। परन्तु भगवान् की इच्छा को सर्वोपरि मानने वाला वह साधु पुरुष उच्च न्यायालय में जाने से इनकार कर देता है। उसका सर्वस्व चौधरय्या के अधीन हो जाता है और उसे अपना घर छोड़, अप्पादास के घर में रहने के लिए विवश होना पड़ता है।

पिता के कुकर्मों का फल सदाचारी पुत्र को भोगना पड़ता है। रामानायुडु की पत्नी कमला मोहनराव (रामानायुडु के चचेरे भाई) के साथ मद्रास भाग जाती है। बेचारा रामानायुडु व्यथित हो उठता है। कमला और मोहनराव तीन-चार महीने मौज़ से गुज़ारते हैं। कभी-कभी कमला को गोपीकृष्ण (जिसे वे लोग 'साहू' कह कर पुकारते थे) की याद सताती है। इस काण्ड को जान कर मोहनराव का भाई उसे (मोहनराव को) अपने गाँव ले जाता है। इसी मध्य कमला चेचक से आक्रान्त हो, धर्मार्थ चिकित्सालय में मरणासन्न हो जाती है और उसे अन्य शवों के साथ फेंक दिया जाता है। उसी समय मोहनराव वहाँ लौटता है और कमला के निधन समाचार से व्याकुल हो गाँव लौटता है और क्षय रोग से पीडित हो जाता है।

अप्पादास 'संगपीठम्' की पाठशाला में नियमित रूप से और बड़ी योग्यता के साथ पढ़ाने लगता है। स्वयं संस्कृत के पंच महाकाव्यों का अध्ययन कर, वह ज्योति को भी सुशिक्षित करता है। ज्योति भी प्राचीन काव्य ग्रंथों का अध्ययन कर, अप्पादास के साथ कई विषयों पर चर्चाएँ करती रहती है। 'संगपीठम्' में भाषणों का प्रबन्ध होता है, हरि कथा, पुराण पाठ तथा प्रवचन आदि होते रहते हैं। एक बार वहाँ 'प्रह्लाद चरित्र' नामक यक्षगान[1] का अभिनय होता है। उस नाटक को देख रामानायुडु का पुत्र गोपीकृष्ण अत्यन्त प्रभावित होता है। इस प्रकार 'संगपीठम्' उस प्रान्त के सामाजिक जागरण का केन्द्र बन जाता है।

खेतों के हाथ से निकल जाने के बाद रामदास को मज़दूरी करनी पड़ती है। इन अत्याचारों को न सह सकने के कारण रामदास का ज्येष्ठ पुत्र वेंकटदास घर से भाग निकलता है और 'तक्केळ्ळ जग्गडु' के नाम से डाकू बन कर, धनी साहूकारों को लूट, दीन दुखियों की सहायता करने लग जाता है।

कमला मरती नहीं, बीमारी से कुरूप बन, अपने घर लौट, शान्तम्मा के नाम से दासी बन, अपने पुत्र की देख-रेख में दिन बिताती है। दुर्भाग्यवश

1. आंध्र का लोक नाटक

गोपीकृष्ण को पाण्डु रोग हो जाता है और वह सदा के लिए आँखें बन्द कर लेता है। उसका दुःख न सह पाने के कारण वह भी एक दिन पति के चरण स्पर्श कर, अन्तिम क्षणों में केवल पति को अपना परिचय दे, प्राण छोड़ देती है।

चौधरी के अत्याचारों की सीमा नहीं रहती। वह अपनी साख के प्रभाव से अप्पादास को पाठशाला की नौकरी से निकलवा देता है। रामदास की गृहस्थी के लिए बुरे दिन आते हैं। वह सुब्बिसेट्टि नामक साहूकार के पास कुछ कपड़े ले कर, आस-पास के गाँवों में बेच आने के लिए निकल पड़ता है। मार्ग में तक्केळ जग्गडु के अनुयायी उसे पकड़ लेते हैं और कपड़े ले कर, दुगुना दाम—चार सौ रुपये देते हैं। ईमानदार रामदास सारी रक़म सेट्टि को देता है परन्तु वह ऊपर के दो सौ रुपये चुपचाप जेब में डाल लेता है और रासदास को उनमें हिस्सा तक नहीं देता। उसी दिन रात को जग्गडु के अनुयायी सुब्बिसेट्टि का घर-बार लूट लेते हैं। जग्गडु को पकड़ने के लिए सरकार अनेकों प्रयत्न करती रहती है पर कोई लाभ नहीं होता। साहूकारों और ज़मींदारों के अत्याचारों से पीडित साधारण जनता की सहानुभूति प्राप्त करने के कारण, सरकार को उसकी गतिविधियों का कोई समाचार प्राप्त नहीं होता।

मंगलापुरम् में पादरी लोग अपने धर्म का प्रचार करने आते हैं। रामदास वाद-विवाद में स्वधर्म को श्रेष्ठ सिद्ध करता है। अंग्रेज़ पादरी अपना-सा मुँह लिये चले जाते हैं। पर क्योंकि उन्हें सरकार का सहयोग प्राप्त था, इसलिए जग्गडु की चोरी-डकैती के सिलसिले में रामदास के परिवार को गिरफ़्तार कर लिया जाता है और उन्हें सुधार केन्द्र में भेजा जाता है। वहाँ उन्हें अनेकों कष्टों का सामना करना पड़ता है। वहाँ का सुपरिटेंडेंट 'पॉल' 'ज्योति' को देख मोहित हो जाता है। रामदास को उसका व्यवहार पसन्द नहीं आता। सुधार केन्द्र भी एक प्रकार से ईसाई धर्म के प्रचार केन्द्र ही थे। रामदास अपने धर्म पर अडिग रहता है। उसके कारण वहाँ के अशिक्षित लोगों में अपने धर्म के प्रति निष्ठा जागृत होती है। इस जागरण को और ज्योति को फँसाने में अपनी असफलता को देख, पॉल और वहाँ के पादरी दोनों मिल कर रामदास के साथ कुछ और लोगों पर मुकदमा चला कर जेल भेजने का षड्यन्त्र रचते हैं। अदालत में सुनवाई होती है और रामदास तथा महालक्ष्मम्मा को छः महीने का कठोर दंड दिया जाता है। ज्योति और रंगडु सुधारकेन्द्र में ही रह जाते हैं।

चौधरय्या की मृत्यु के बाद रामानायुडु और वेंकटय्या यह निश्चय करते हैं कि अपनी सारी जायदाद 'संगपीठम्' को दे दें। रामानायुडु ज्योति और रंगडु को वापिस गाँव में लाने का प्रयत्न करता है। पर पादरी स्वयं को उनका संरक्षक घोषित करता है। दूसरी ओर अवसर पा कर एक दिन पॉल ज्योति पर अत्याचार करने का प्रयत्न है तो वह नदी में कूद जान दे देती है। उसी समय वहाँ आया हुआ अप्पादास ज्योति के शव के साथ नदी में कूद कर अपनी जान दे देता है।

ज्योति और अप्पादास का सहमरण प्रान्त भर में तहलका मचा देता है। सरकारी सुधारकेन्द्र की व्यवस्था को सुधारने के लिए प्रयत्न होने लगते हैं।

जग्गडु के अनुयायियों और सरकारी सेना में घमासान युद्ध होता है जिसमें जग्गडु घालय हो पकड़ा जाता है। पकड़े जाने के बाद अस्पताल में वह अपना परिचय देता है। मंगलापुरम् के लोग अपने ही गाँव के एक व्यक्ति के साहसिक कृत्यों को जानकर आश्चर्य चकित हो जाते हैं। तदनन्तर उस पर अभियोग चलता है और उसे (वेंकटदास उर्फ जग्गडु) पाँच साल की सजा दी जाती है और उसे भी वहीं भेज दिया जाता है जहाँ रामदास और महालक्ष्मम्मा थे।

लेखक ने इस अवसर पर उस समय की जेल व्यवस्था तथा वहाँ के अत्याचारों का अनावश्यक विस्तार के साथ वर्णन किया है।

रामदास और महालक्ष्मम्मा को जेल में अनेक यातनाओं को सहना पडता है। वेंकटदास के मुख से ज्योति और अप्पादास के सहमरण का समाचार सुन कर तथा उसकी दुर्दशा को देख महालक्ष्मी का हृदय फट जाता है और वह तत्काल मर जाती है। उसके बाद ही, अन्तिम समय तक भी भगवान का नाम न ले कर विद्रोही वेंकटदास भी मर जाता है। तदनन्तर जेल में अनेक कष्टों का सामना कर रामदास मुक्ति लाभ करता है और अपने गाँव चला आता है। वहाँ रामानायुडु आदि उसका स्वागत करते हैं। मंगलापुरम् में जग्गडु की भेजी 5 लाख की रक़म से 'विजय कलाशाला' (महाविद्यालय) की स्थापना की जाती है। जग्गडु मज़दूर सभा के लिए भी उतनी ही रक़म की व्यवस्था करता है।

मोहनराव अपने कुकर्म का प्रायश्चित करने के लिए, क्षयरोग से मरते समय, अपनी सारी जायदाद 'विजय कलाशाला' को दे जाता है। 'विजय

कलाशाला' आदर्श महाविद्यालय के रूप में बुनियादी शिक्षा का केन्द्र बन स्वराज्य आन्दोलन की मार्गदर्शिका बनती है। इस प्रकार जीवन में पगपग पर कष्टों का सामना करने वाला रामदास अचंचल भाव से अपने कार्य में निमग्न रहता है। एक दिन वह अकस्मात् आरण्यकों की ओर चला जाता है। और यहीं उपन्यास भी समाप्त हो जाता है।

इस उपन्यास में संगदास का सर्वतोमुखी ज्ञान, अद्भुत त्याग, ज्योति अप्पादास का अशरीरी प्रेम, महालक्ष्मम्मा का वात्सल्य, वेंकटदास का आत्म-समर्पण, रामानायुडु का अकुंठित सेवाभाव आदि का और रामदास के निष्काम कर्मभाव का सुन्दर तथा प्रभावशाली ढंग से वर्णन किया गया है।

'मंगलापुरम्' मानव धर्म का 'मंगलपुर' है। इस उपन्यास में यह दरसाया गया है कि मानव के महत्त्व का मूलकारण त्याग-वैराग्य, गुणशील, प्रेम-निग्रह, भक्तिश्रद्धा आदि हैं न कि भोगविलास, कुलसम्पत्ति, प्रज्ञा-पांडित्य, दम्भ अहकार आदि।

'रामदास' 'मालपल्लि' अथवा 'संगविजय' का हृदयभूत है। सुख-दुःख में समता का अनुभव करने वाला वह स्थितिप्रज्ञ वास्तव में ही कर्मयोगी और पूर्ण वेदान्ती है। रामदास के लिए दुखों की परम्पराएँ, रागद्वेष, ममता-अहंकार, मान-अभिमान आदि सभी आत्मविजय के ही साधन बने है। सारी जायदाद का छिन जाना, संगदास की हत्या, सुधारकेन्द्र और जेल की यातनाएँ, ज्योति और अप्पादास का सहमरण, पत्नी और पुत्र की मृत्यु आदि समस्त घटनाएँ उसके आत्मोद्धार की साधिका ही सिद्ध हुई हैं। निष्काम कर्मयोग के अभ्यास ने रामदास के लिए 'अन्ता राममयम्, ई जगमन्ता राममयम्' (सियाराममय सब जग) परक धर्म को सर्वसुलभ बनाया है। रामदास का चरित्र अतीव आदर्श बन पड़ा है। वह अपने चरित्र बल से 'मालपल्लि' को 'मुनिपल्लि' (मुनियों की बस्ती) बनाता है।

भक्ति और प्रेम जब इन्द्रियानुभव से विरत हो कर आत्मार्थ की ओर उन्मुख होते हैं तो आत्मानन्द की अनुभूति होती है। श्रीमद् भागवत में प्रतिपादित इस परमार्थ तत्त्व को 'मालपल्लि' में ज्योति और अप्पादास के चरित्रों द्वारा अभिव्यक्त किया गया है।

धर्मार्जित सम्पत्ति सुकृत में ही व्ययित होती है और पापार्जित वित्त परपीडन में। इसीलिए चौधरय्या का क्रोध तथा लोभ आत्मनाश का कारण

बनता है तो रामानायुडु और वेंकटदास का त्याग और सेवा-भाव धर्म-विजय का।

वेंकटदास का चरित्र अत्यन्त विलक्षण है। जगत् की व्यवस्था एवं अत्याचारों से असन्तुष्ट हो कर वह भगवान के अस्तित्व में ही सन्देह प्रकट करने लगता है और वर्तमान व्यवस्था को बदल देने के लिए आत्म बलिदान कर देता है। उसका कार्यक्रम सामाजिक परिवर्तन की दिशा में एक नूतन अध्याय जोड़ता है।

इस उपन्यास में वर्णित सुधारकेन्द्र, जेल, अदालत, पाठशाला, खादी, असहयोग, धार्मिक लूटखसोट, स्वराज्यान्दोलन, अहिंसा आदि विषयों से सम्बद्ध अनेक विवरणों द्वारा 'मालपल्लि' सचमुच समकालीन समाज का प्रतिबिम्ब बना हुआ है। मालपल्लि के प्रत्येक पृष्ठ में, भाषा में, भावों में तथा रचना शिल्प में नवजीवन की झाँकियाँ प्रस्तुत की गयी हैं।

आन्ध्र के ग्रामीण जीवन का जीता-जागता चित्र प्रस्तुत करते हुए इस उपन्यास ने आदर्श समाज की स्थापना की ओर इंगित किया है और आन्ध्र जनता को तद्विषयक जागरूकता प्रदान कर, अभीष्ट कार्य पूर्ति की दिशा में अग्रसर कर, अपने दायित्व को निभाया है।

विश्वदाता काशीनाथुनि नागेश्वरराव पन्तुलु के शब्दों में 'तेलुगु शब्द, तेलुगु देश, तेलुगु साहित्य, तेलुगु हृदय, तेलुगु संकल्प आदि ने 'मालपल्लि' को अनिर्वचनीय प्रतिभा प्रदान की है।' आन्ध्र के उपन्यास साहित्य में 'मालपल्लि' का अप्रतिम स्थान है।

कुछ प्रमुख उपन्यास—१

हिमबिन्दु

श्रीमती पद्मजा भव

आन्ध्र के इतिहास तथा आन्ध्र के वीरों की कथाओं को इतिवृत्त रूप में ग्रहण कर श्री बापिराजु ने श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की है। इन उपन्यासों में आन्ध्र सातवाहनों के शासनकाल के इतिवृत्त पर आधारित 'हिमबिन्दु' संसार के श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासों की सन्निधि में रखा जा सकता है।

इतिहास को हृदयंगम रूप से चित्रित करते हुए, धार्मिक समन्वय को प्रतिपादित कर श्री बापिराजु ने इस उपन्यास में मानव मन की कोमल भावनाओं का मनोहरता के साथ उद्‌घाटन किया है।

आन्ध्र देश में श्री अडिवि बापिराजु का व्यक्तित्व भाव कविता (छायावाद) का स्वर्णिम रूप माना जाता है। बंगला साहित्य में रवीन्द्र जितने वैविध्य सम्पन्न कला-संकाय हैं, आन्ध्र साहित्य में वही स्थान श्री बापिराजु का है। वे कविता, कहानी, गीत, गायन, शिल्प, चित्रकारी उपन्यास-रचना आदि विधाओं में निपुण, बहुमुखी प्रतिभा के धनी, युगचेता पुरुष थे। उनकी प्रत्येक पंक्ति वैविध्य से ओतप्रोत है।

बापिराजु की आराध्यदेवी का नाम शशिबाला है। इस कल्पनामूर्ति के प्रति लिखे गये बापिराजु के भावपूर्ण गीत वाग्देवता के लिए मुक्ताहार सदृश है। बापिराजु के चित्रकार ने विश्वनाथ सत्यनारायण की 'किन्नेरसानि'[1] को मूर्तिमती किया है। पत्रिका का सम्पादन करते हुए धारावाहिक रूप में उपन्यास और कहानियों की रचना कर, उन्होंने आन्ध्र-भारती की सतत अश्रान्त रूप में आराधना की है।

बापिराजु की कल्पना अतीव ललित और विशद है। निर्झर के समान सतत प्रवाहित होने वाला शब्द विन्यास, अति सुकुमार और सरस चरित्र चित्रण, ठेठ आन्ध्रमय वातावरण आदि गुणों ने बापिराजु के उपन्यासों, कहानियों तथा गीतों को एक विशिष्ट महत्त्व प्रदान किया है।

बापिराजु ने आन्ध्र के जन-जीवन की प्रत्येक आनन्ददायिनी कल्पना को काव्यात्मकता प्रदान की है। संक्रान्ति पर्व के अवसर पर प्रत्येक तेलुगु ग्राम में नितप्रति दर्शन देने वाले बसवन्न[2] को लक्ष्य कर रचित आपका गीत तेलुगुपन का उत्तम उदाहरण है। इन्हें आन्ध्र देश तथा आन्ध्र इतिहास से अत्यन्त प्रेम है। इनके लिखे उपन्यासों तथा कहानियों की कथावस्तु का रंग-मंच तेलुगु देश है और तेलुगु वीरों की कथाएँ ही रचनाओं की कथावस्तु है।

1. रूपक प्रधान सुन्दर गीति-काव्य। 2. सजाया हुआ साँड, जिसे नंदिकेश्वर का प्रतिरूप माना जाता है।

बापिराजु के उपन्यासों में चार प्रधान हैं; 'हिमबिन्दु', 'गोनगन्नारेड्डी', 'नारायणराव' और 'कोणंगी'। इन चारों में आन्ध्रों की कथाओं को ही इतिवृत्त के रूप में ग्रहण किया गया है। 'हिमबिन्दु' में आन्ध्र सातावाहनों की कथा है, 'गोन गन्नारेड्डी' में काकतीय साम्राज्ञी रुद्रमदेवी के सामन्त गन्नारेड्डी के साहसिक कृत्यों की कथा है, 'नारायणराव' में आन्ध्र के ज़मींदार परिवार की कथा है और 'कोणगी' में आधुनिक स्वतंत्रता आन्दोलन-काल का इतिवृत्त है।

इनके अतिरिक्त बापिराजु के छोटे उपन्यासों में 'रागमलिका', 'जाजिमल्लि', (जुही) 'नरुडु' (मानव) प्रमुख हैं। लगभग पचास कहानियाँ भी आपने लिखी है। कहानियाँ अतिसुकुमार भावनाओं से परिपूर्ण होने के कारण पाठकों को विभोर कर देती हैं। इन सभी रचनाओं में हमें बरबस अपनी ओर आकृष्ट करने वाले तत्व हैं; उनका वैविध्यपूर्ण व्यक्तित्त्व, तेलुगुपन तथा ललित कलाओं के प्रति उनका अपार अनुराग।

उनके उपन्यासों में 'नारायणराव' पाठकों को अपनी ओर आकर्षित करने में समर्थ हुआ है। किन्तु समीक्षात्मक साहित्यिक दृष्टि से 'हिमबिन्दु' को ही श्रेष्ठ माना जाना चाहिए।

— 2 —

'हिमबिन्दु' लगभग ३५० पृष्ठों का बृहद् उपन्यास । यह चार खंडों तथा सौ से अधिक अध्यायों में विभक्त है।

ऐतिहासिक उपन्यासों को लिखने के लिए लेखक को विशिष्ट परिश्रम करना पड़ता है। कथा-सविधान, भाषा, पात्रों की कल्पना, चरित्र-चित्रण आदि में जिस समय से सम्बद्ध कथा को ग्रहण किया जाता है, उस युग के सभी विषयों का सांगोपांग वर्णन होना चाहिए। बापिराजु ने इन सभी श्रेष्ठ तत्त्वों को ग्रहण कर 'हिमबिन्दु' को आदर्श ऐतिहासिक उपन्यास के रूप में प्रस्तुत किया।

इस उपन्यास की कथावस्तु आन्ध्र सातवाहनों से सम्बद्ध है। बौद्ध शक संवत् 453 में धान्यकटक को राजधानी बना कर आन्ध्र साम्राज्य के महाराज श्रीमुख सातवाहन किस प्रकार से पाटलीपुत्र को जीत कर जम्बूद्वीप के चक्रवर्ती बने, 'हिमबिन्दु' का इतिवृत्त इसी का निरूपण करता है। यही इस उपन्यास की कथावस्तु का ऐतिहासिक सत्य है। इसका समग्र चित्रण करने के

लिए सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का चित्रण करने में बापिराजु ने जिस प्रतिभा को दिखाया है, वह अनन्य है।

— 3 —

श्रीमुख सातवाहन के राजतिलक के 19 वर्ष बाद अर्थात् बौद्ध शक संवत् 472 में, महाराज के जन्म दिन के उपलक्ष्य में आयोजित उत्सवों के साथ कथा का आरम्भ किया गया है। उस समय तक श्री कृष्ण सातवाहन महाराज पद ग्रहण कर प्रतिष्ठान नगर पर शासन कर रहे थे। श्री कृष्ण सातवाहन के मायादेवी तथा शान्तिश्री देवी नामक दो बहनें थीं। उनके छोटे भाई मंजुश्री के कुछ मास पूर्व चुराये जाने पर सारा राज-परिवार दुखी था।

यह स्वाभाविक है कि महाराजाओं के जन्म-दिन के अवसर पर कई प्रकार की प्रतियोगिताओं तथा उत्सवों का आयोजन हो। उन प्रतियोगिताओं के विजेताओं को महाराज पुरस्कार बाँटते हैं। इस प्रकार की प्रतियोगिताओं में रथ-चालन की परीक्षा प्रधान मानी जाती थी। प्रति वर्ष के समान ही चारुगुप्त के रथ उस वर्ष भी प्रतियोगिता में भाग ले रहे हैं। उनके रथ के चालक है उनके भानजे और महाराज की सेना के उपसेनापति समवर्ती सातवाहन।

किन्तु इस वर्ष विजयलक्ष्मी सुवर्णश्री नामक युवाशिल्पी का वरण करती है। सुवर्णश्री धर्मनन्दी का पुत्र तथा व्यायाम-क्रीडा के आचार्य सोमदत्त का शिष्य है। चारुगुप्त और उनकी पुत्री हिमबिन्दु को सुवर्णश्री पर क्रोध हो आता है। किन्तु सुवर्णश्री अत्यन्त सौन्दर्यशाली है। उत्तम शिल्पी है। उसके सौन्दर्य तथा गुणों पर आकृष्ट हो कर हिमबिन्दु अपना सर्वस्व उसके चरणों में समर्पित कर देती है। सुवर्णश्री भी हिमबिन्दु को ही सब कुछ समझता है।

इन्हीं दिनों महाराज को पता चलता है कि राज्य का नाश करने के लिए कुछ लोग षड्यन्त्र रच रहे हैं। सातवाहन बौद्ध हैं। वैदिक धर्म के अनुयायी कुछ लोग अन्य राजाओं की सहायता से सातवाहनों को पदच्युत कर वैदिक राज्य की स्थापना करने पर कमर कसे हुए हैं। राजकर्मचारियों का सन्देह है कि महर्षि स्थौलतिष्य का इससे सम्बन्ध है। गुप्तचरों द्वारा समाचार मिलता है कि राजकुमार के चुराये जाने में भी इन्हीं षड्यन्त्रकारियों का हाथ है।

महाराज के मन्दिर में इस षड्यन्त्र के बारे में गम्भीरतापूर्वक विचार करने वालों में आर्य चारुगुप्त भी हैं। वे भारत के वाणिज्य के सार्वभौम

महाश्रेष्ठी, महाराज के अत्यन्त विश्वास-पात्र और सहायक तथा आन्ध्र साम्राज्य के लिए मानो आदि शेष हैं। उनका सुन्दर स्वप्न है कि अपनी पुत्री हिमबिन्दु का विवाह महाराज के पुत्र तथा भावी सम्राट् श्रीकृष्ण सातवाहन के साथ हो। किन्तु उनकी बहन का पुत्र समदर्शी भी हिमबिन्दु से विवाह करने को इच्छुक है। दूसरी ओर स्थौलतिष्य 'विष बाला' नाम से विषकन्या की सृष्टि कर, श्रीकृष्ण सातवाहन पर उसका प्रयोग करना चाहते हैं। इस विषय में चाणक्य नीति का प्रदर्शन करते हुए, वे ऊपरी ढंग से महाराज के हित-साधन का अभिनय करते हुए, भीतर से षड्यन्त्र रचने में निमग्न हैं।

इसी बीच महाराज को समाचार मिलता है कि एक ओर से पुळिन्द, दूसरी ओर से मागध और तीसरी ओर से मालव एक साथ आन्ध्र साम्राज्य पर धावा बोलने के लिए सम्बद्ध हो रहे हैं। महाराज मन्त्री, सामन्त तथा गुप्तचरों से सलाह ले कर, सेना को विभक्त कर, स्वयं पुळिन्दों का दमन करने के लिए उज्जैन पर धावा बोलने निकल पड़ते हैं। मार्ग-मध्य में 'भरु-कच्छ' नामक बन्दरगाह पर काबू पाने के लिए विभिन्न मार्गों से सैनिकों को भेजने का निश्चय किया जाता है। युवराज श्रीकृष्ण सातवाहन एक टुकड़ी के सेनापति नियुक्त किये जाते हैं।

यौन विषय-वासनाओं से असंपृक्त रूप में स्थौलतिष्य विष कन्या का पालन-पोषण करते हैं। किन्तु चहुँ ओर के वातावरण को देखते हुए उस विष-कन्या के मन में सहज प्राकृतिक भावना अंकुरित होने लगती है और विष-कन्या के रूप में रहना उसके लिए स्वयं भयावह एवं असह्य हो उठता है।

चारुगुप्त भी महाराज के साथ विजय-यात्रा के लिए निकल पड़ते हैं। जाते-जाते वे अपने मन की बात पुत्री से कह देते हैं। यह भी कहते हैं कि किसी न किसी दिन उसे महारानी बनना है और इसके लिए महाराजा ने अपनी स्वीकृति भी दी है। यह सुनते ही हिमबिन्दु मूच्छित हो गिर पड़ती है। चारुगुप्त समझते हैं कि शायद मेरे युद्ध-यात्रा पर जाने की बात सुन कर मूच्छित हुई हो।

हिमबिन्दु के मुख से यह बात सुन कर सुवर्ण श्री पानी-पानी हो जाता है और अपने दिल पर पत्थर रख कर निश्चय कर लेता है कि हिमबिन्दु को महारानी बनाने के लिए मैं अपने प्रेम का बलिदान कर दूंगा।

महाराज का आदेश है कि श्रीकृष्ण सातवाहन आखेट के मिस निकल पड़ें और क्रमशः अपनी सेना को एकत्र कर एक ओर से उज्जैन पर धावा बोल दें। इस बात को स्थौलतिष्य जानते हैं। अतएव वे श्रीकृष्ण सातवाहन के मार्ग में विपकन्या को ठहरा देते हैं और समझते हैं कि उसका सौन्दर्य युवराज को आगे बढ़ने नहीं देगा, वे उसके निकट आएँगे और उसके विप के कारण उनका अन्त हो जाएगा।

स्थौलतिष्य की योजना के अनुसार युवराज विपकन्या को देख लेते हैं। उसकी आँखों की अनोखी कांति उन्हें आगे बढ़ने नहीं देती। अपने साथ आने वाले मांत्रिकों तथा वैद्यों के कहने पर भी कि वह विषकन्या है, वह कोई परवाह नहीं करते। उसके बिना अपनी दुनिया को अंधकारमय मान कर वे अपने वैद्यों को आज्ञा देते हैं कि उसे साधारण कन्या बना दें..। यह जान कर श्रीकृष्ण को अत्यन्त आश्चर्य होता है कि स्वयं स्थौलतिष्य ने विषकन्या का प्रयोग किया है। इस प्रकार विपकन्या और श्रीकृष्ण परस्पर आकृष्ट होते हैं।

उज्जैन और मालवा में भीपण युद्ध होता है। किन्तु राजधानी धान्यकटक नगर में कल्पनातीत घटना घटती है। एक दिन शाम के समय उपवन में विहार करने वाली हिमबिन्दु को कोई चुरा ले जाते हैं। सारे नगर में खलबली मच जाती है। महाराज और चारुगुप्त को समाचार भेजा जाता है। किसी भी मूल्य पर हिमबिन्दु का पता लगाने का निश्चय कर सुवर्ण श्री घर से निकल पड़ता है।

गोंडों का युवराज महाबल गोंड सुवर्णश्री का मित्र है। सुवर्ण श्री उसकी सहायता से हिमबिन्दु का पता लगाने का विचार करता है। अपने मित्र की सहायता से ही सुवर्णश्री को मालूम होता है कि 'शबर' नामक दस्यु हिम बिन्दु तथा उसकी नानी मुक्तावली को इन्हीं अरण्य-प्रान्तों में ले आए हैं। एक दिन नर्मदा नदी के किनारे बैठे सुवर्ण श्री की दृष्टि एक नौका पर पड़ती है। उसका पता लगाने के लिए वह पानी में कूद उसका पीछा करता है और दस्युओं की गुफा में बंदी बनी हिमबिन्दु तथा मुक्तावली को अतिसाहस और चातुर्य से बचा लेता है। गोंड सेना उस गुफा पर आक्रमण करती है, तो महाराजकुमार मंजुश्री भी वहीं मिल जाता है।

ये आनन्ददायक समाचार महाराज और चारुगुप्त के पास भेजे जाते हैं। अपने गुरु सोमदत्त की इच्छा के अनुसार सुवर्णश्री युवराज श्रीकृष्ण के

अंगरक्षक बन उनके प्राणों की रक्षा कर, युवराज की प्रशंसा का पात्र बनता है और उप सेनापति के पद को ग्रहण करता है।

चारुगुप्त, हिमबिन्दु को युवरानी बनाने के लिए महाराज की आज्ञा चाहते है। महाराज की अनुमति पर वह समाचार श्रीकृष्ण के पास भेजा जाता है, पर युवराज के हृदय में विषकन्या के अतिरिक्त और किसी के लिए स्थान ही नहीं था।

अनेक दिशाओं से आने वाले आक्रमणों का सामना करने में असमर्थ, पाटलीपुत्र, आंध्रों के सामने सिर झुका देता है। आंध्र सातवाहन जम्बूद्वीप के चक्रवर्ती बन जाते हैं। उन्हें हर ओर से विजय ही विजय मिलती है, किन्तु उन्हें पुत्र के विवाह की बात व्याकुल बनाये रहती है तथा विषकन्या और श्रीकृष्ण के प्रणय की बात भी मालूम हो जाती है। महाराज अमृत पादार्हत नामक बौद्ध गुरु के पास इस विषय के बारे में सलाह लेने जाते हैं। अमृतपादाहित विषकन्या के सौन्दर्य और गुणों की प्रशंसा कर, कहते हैं कि वह युवराज के योग्य ही है। यही नहीं, वे हिमबिन्दु और सुवर्णश्री की प्रणय-गाथा को बता देते हैं।

सुवर्णश्री की बहन नागबन्धुनिका और समवर्ती सातवाहन एक-दूसरे से प्रेम करते है। महाराज की अनुमति पर उनके विवाह का निश्चय किया जाता है।

एक दिन विषकन्या के बारे में जानने के लिए अमृत पादार्हत स्थौल-तिष्य के आश्रम में जाते हैं। वहाँ उन दोनों में बौद्ध और वैदिक धर्मसूत्रों के पर तीव्र वाद-विवाद होता है। उस चर्चा के समय स्थौलतिष्य अमृतपादार्हत को पहचान लेते हैं कि वह बौद्ध भिक्षु और कोई नहीं स्वयं उनके पुत्र हैं जो अपने तीसवें वर्ष में गंगा नदी में डूब गये थे और अपनी पूर्व स्मृति को पूर्ण रूप से खो कर बौद्धों के संघ में विद्या-ग्रहण कर, आज उन सबके गुरु बने हुए हैं। क्रोध का बहाना कर स्थौलतिष्य अपने दंड से अमृतपादार्हत के सिर पर गहरी चोट करते हैं जिससे पुत्र की पूर्व-स्मृति लौट आती है और पुत्र पिता को पहचान लेता है।

इस धार्मिक वाद-विवाद में अमृतपादाहृत वैदिक और बौद्ध-धर्मो के निकट-सम्बन्ध को सिद्ध करते हैं। अपने पुत्र के बौद्धमतावलम्बी हो जाने पर और विषकन्या के प्रयोग के असफल हो जाने पर स्थौलतिष्य के मन में ज्ञान

का उदय होता है। अपने पुत्र के साथ वे भी 'लंबिका योग' को जाते हैं। वहाँ समझ जाते हैं कि बौद्ध धर्म तथा वैदिक धर्म में कोई अन्तर नहीं है। वे कहते हैं कि 'भिक्षु ! निर्विकल्प-पथ का अनुसरण करने वाले हम और निर्वाण-पथ का अनुगमन करने वाले तुम दोनों एक ही प्रकार के साधक हैं। इसके बाद वे विषकन्या के अमृतबाला बनने के बाद श्रीकृष्ण सातवाहन के साथ उसके विवाह करने के लिए अपनी स्वीकृति दे देते है।

इन विषयों से अनभिज्ञ सुवर्णश्री युद्ध में महाराज के विजयी होते ही, अपने कार्य की इतिश्री मान लेता है। वह भारत के सभी बौद्ध-विहारों के दर्शन कर, भिक्ष बन, किसी विहार में शिल्पी बन कर, जीवन-यापन करने का निश्चय कर निकल पड़ता है।

श्रीकृष्ण विषबाला के साथ विवाह करेगा, यह सुन कर चारुगुप्त अवाक् रह जाते हैं उनकी सभी आशाओं पर पानी फिर जाता है। अन्त में धैर्य धारण कर, अपनी पुत्री के सुख को ही अपना सर्वस्व मान कर, हिमबिन्दु और सुवर्णश्री के विवाह के लिए अपनी स्वीकृति दे देते है। चारुगुप्त को पाटलीपुत्र में राज-प्रतिनिधि के पद पर प्रतिष्ठित किया जाता है।

अब कीर्तिगुप्त और श्रीकृष्ण महाराज की अनुमति प्राप्त कर सुवर्णश्री को खोजने तथा उसे संन्यासी बनने से रोकने के लिए निकल पड़ते हैं। उनसे पहले पिता को भी न बता कर, हिमबिन्दु सुवर्णश्री की खोज में निकल पड़ती है और वारणासि के मृगवन-विहार में आती है। उसे देख कर भी सुवर्णश्री अपने मन को दृढ़ बना कर, सन्यासी बनने के अपने निश्चय को बताता है। वह कहती है कि 'मैं भी संन्यास ग्रहण करूँगी।'

'अरे, तुम्हें सन्यास क्यों ?'

'सुवर्णश्री कुमार ! तुम्हें भी सन्यास क्यों ?' ऐसा कहते हुए चारुगुप्त वहाँ आते हैं।

इस प्रकार कथा सुखान्त हो जाती है।

— 4 —

'हिमबिन्दु' ऐतिहासिक उपन्यास है और तेलुगु देश के इतिहास से सम्बद्ध रचना है। सातवाहन प्रथम आंध्र चक्रवर्ती है। इतिहास को उपन्यास के अनुकूल रूप देने में बापिराजु ने जो प्रतिभा दिखाई है, वह अनन्य है। इस कार्य की सफलता के लिए लेखक ने उपन्यास के चरित्र चित्रण तथा

भाषा-शैली पर विशेष ध्यान दिया है। इतिहास के अनुरूप पात्रों की सृष्ठि करने में उनकी भाषा को उस ऐतिहासिक युग के अनुकूल बनाने और उनके योग्य आचार और व्यवहारों को सूचित करने में बापिराजु ने स्पष्ट संकेत किये हैं। उस युग के राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, न्याय सम्बन्धी किसी भी विषय के किसी भी अंश को बापिराजु ने असम्पृक्त नहीं छोड़ा है। इन सभी विषयों का वर्णन तथा व्याख्यान ने इस उपन्यास को और भी सुगठित बनाया है।

बापिराजु की भाषा पर्वत की घाटियों में प्रवाहित निर्झर के समान है। उदात्त संस्कृत समास, उनके साथ ही साथ अतिसुकुमार तथा ठेठ तेलुगु शब्द विन्यास पाठक को मुग्ध कर देते हैं। वेष-भूषाएँ, जीवन-विधान, शौर्य-प्रताप की अभिव्यक्ति आदि के वर्णन के साथ उस युग के लोगों के जीवन की छोटी-मोटी बातों पर भी बापिराजु ने अपने निश्चित विचारों को शोधार्थी के समान पैनी दृष्टि से प्रकट किया है।

— 5 —

'हिमबिन्दु' के इतिवृत्त का निर्माण बहुत क्लिष्ट है। इतिहास का नाम लेते ही धर्म तथा राजनीति की चर्चाओं से कथावस्तु असम्पृक्त नहीं रह सकती। सच पूछा जाए तो कहना पड़ेगा कि ये दोनों एक दूसरे पर आधारित हैं। धार्मिक वैमनस्य, षड्यन्त्र आदि इस उपन्यास की कथावस्तु में प्रधान स्थान रखते है। उस युग की राजनीति में बौद्ध तथा वैदिक धर्मावलम्बियों के मध्य होने वाले संघर्ष का चित्रण बापिराजु ने इस कुशलता से किया है कि वह हमारी आँखों के सामने प्रत्यक्ष-सा हो जाता है।

स्थौलतिष्य के विषकन्या को राजनीति सम्बन्धी कार्य के लिए निर्दिष्ट करने के समय से ले कर, इन राजकीय कार्यों का प्राधान्य बढ़ता ही जाता है और महाराज के पाटलीपुत्र की विजय के समय तक अपनी पराकाष्ठा को पहुँच, स्थौलतिष्य तथा अमृतपादार्हत के वाग्विवाद में धर्म में विलीन हो जाता है। स्थौलतिष्य का यह समझ लेना कि वैदिक तथा बौद्ध धर्म में कोई अन्तर नहीं है, धार्मिक सामंजस्य के लिए जितना मुख्य है, देश के सौभाग्य के लिए राजनीतिक दृष्टिकोण से भी, उतना ही प्रधान है। आज के समान ही उस समय के इतिहास में धर्म ही राजनीति का मूल आधार है।

इस उपन्यास की प्रेम कथाएँ ऐतिहासिक कथा के अनुबद्ध रूप में चल पड़ी है। उनमें मुख्य है नायिका हिमबिन्दु तथा सुवर्णश्री के प्रेम की कथा।

इस प्रेम की सिद्धि में प्रारम्भ से ही विघ्न दृष्टिगोचर होते हैं। चारुगुप्त करोड़पति हैं। उनके जीवन का लक्ष्य ही हिमबिन्दु को महारानी बनाना है। सुवर्णश्री सामान्य नागरिक हैं। तिस पर हिमबिन्दु की बुआ का पुत्र समवर्ती उससे शादी करना चाहता है। उन दोनों को छोड़ हिमबिन्दु का सुवर्णश्री का वरण करना, महारानी पद का भी तिरस्कार करना—यह सच्चे प्रेम को सांसारिक सुख-सम्पत्तियों से अतीत सिद्ध करने के लिए ही किया गया है।

हिमबिन्दु का पता लगा कर, उसे उसके पिता को सौंप कर, स्वय सन्यास ग्रहण कर, अपने प्रेम के त्याग करने का संकल्प करने वाले सुवर्णश्री का प्रेम जितना त्यागमय है, अपने प्रेमी से विवाह करने की अनुकुल परि-स्थितियों के न होने पर उस प्रेमी के साथ स्वयं भी संन्यास ग्रहण करने का निश्चय करने वाली हिमबिन्दु की मनोदृढ़ता भी उतनी ही बलवती है।

इसीलिए उदात्त प्रेम सांसारिक विघ्न-बाधाओं से परे है, इस सूचना के साथ उपन्यास समाप्त किया गया है।

इस उपन्यास की दूसरी प्रेम कथा श्रीकृष्ण सातवाहन तथा विष कन्या की है। हिमबिन्दु तथा सुवर्णश्री का प्रेम कलात्मक उदात्त प्रेम है। इसी प्रकार विष का मंथन कर, अमृत की सिद्धि करने वाले श्रीकृष्ण और विष कन्या का भी प्रेम दिव्य है। इन दोनों ने प्रेम की कसौटी पर अपने अस्तित्व को प्रमाणित किया है।

— 6 —

चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में बापिराजु पर यह एक लांछन है कि उनके सभी पात्र उदात्त तथा सर्व-लक्षण सम्पन्न होते हैं। उनके उपन्यासों के सभी नायक समुन्नत दीर्घ शरीर वाले हैं, वीर हैं, सुशिक्षित हैं और सर्व कलामय मूर्ति हैं। स्त्रियाँ तो सौन्दर्य-राशियाँ है, सर्वकलाशोभित तथा सर्व विद्यापरिपूर्ण हैं। ऐसे पात्र नित्यप्रति के जीवन के हमारे अनुभवों के विपरीत होते हैं।

लेकिन इस प्रकार के पात्र-चित्रण का एक प्रकार से समाधान दिया जा सकता है। इस प्रकार से ये सभी पात्र लेखक के मनोभावों के प्रतिबिम्ब हैं। उनके समान ही उनके पात्र भी जीवन की अच्छाई का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। जीवन में छल-कपट को न जानने वाले होने से ही बापिराजु स्थौलतिष्य में भी मानसिक परिवर्तन ला कर उन्हें भी दिव्य मानव बना सके हैं।

इसका दूसरा कारण, इतिहास के प्रति बापिराजु का दृष्टिकोण है। आंध्र का इतिहास आंध्र इसलिए पढ़ें कि अपने पूर्वजों की उन्नति और उनके बड़प्पन के बारे में जान लें। यदि प्राचीन आंध्रों को शीलहीन रूप में चित्रित करें तो इस पीढ़ी के लोगों के लिए वह अनुसरणीय अथवा मार्ग दर्शक नहीं होगा। इसी ऐतिहासिक दृष्टिकोण ने बापिराजु से उदात्त पात्रों का चित्रण कराया है। यही कारण है कि आंध्र सातवाहन राजवंश में, उनके दंडनायक-सेनापतियों में, उनकी प्रजा मे, यही उदात्त व्यक्तित्व दृष्टिगोचर होता है।

किन्तु इस एकरसता में भी बापिराजु ने सूक्ष्म भिन्नता को दरसाया है। उदाहरण के लिए समदर्शी, सुवर्णश्री, विषकन्या, हिमबिन्दु चारुगुप्त, श्रीमुख सातवाहन और सबसे अधिक स्थौलतिष्य, अमृतपादाहर्त में चरित्र-चित्रण की सूक्ष्मता दिखाई पड़ती है।

इस उपन्यास में स्थौलतिष्य का पात्र वैविध्यपूर्ण है। उनमें आर्यों की वैदिक निष्ठा, कार्यदीक्षा, कुशाग्रबुद्धि का चित्रण लेखक ने बड़े प्रभावशाली ढंग से किया है। उनकी विचारधारा में कथा-वस्तु में परिवर्तन अत्यन्त प्रधान है। 'आर्यधर्म का अवतार ही बुद्ध है।' उनका यह वाक्य दोनों धर्मों का समन्वय करते हुए लेखक की व्याख्या ही है।

स्थौलतिष्य के चरित्र में मुख्य विषकन्या का प्रयोग है। यह स्पष्ट है कि बापिराजु ने चाणक्य-चन्द्रगुप्त की कथा से इसे ग्रहण किया है। किन्तु चाणक्य की विषकन्या तो विषकन्या ही बनी रहती है और उनकी योजनाओं को सफलरूप में कार्यान्वित करती है। किन्तु यहाँ वह सिद्ध करती है कि शारीरिक और मानसिक संघर्ष में मानसिक शक्ति की ही जीत होती है। उसे महर्षि ने शारीरिक रूप से विषतुल्य बनाया है। उसकी हवा भी लगे तो मरण ही शरण्य है। किन्तु उसका हृदय नवनीतसम है। मानसिक रूप से वह अमृत की मूर्ति ही है। वह स्थौलतिष्य के मन की विषाक्त भावनाओं का प्रतीक है। उन भावनाओं को भी बदल कर उनमें परिवर्तन ला सकना उनकी शक्ति का प्रमाण है। स्थौलतिष्य का श्रीकृष्ण के साथ विषकन्या के विवाह के लिए स्वीकृति देना इसी परिवर्तन को सूचित करता है।

महर्षि के पुत्र अमृत पादर्हत का पात्र प्रधान रूप से प्रतीकात्मक के रूप में चित्रित किया गया है। पुत्र की भावना अति सुकुमार और मृदुल है। वह

कठोरता तथा मृदुता के भावों से समरूप से पोषित मूर्ति है। पुत्र जब तक अपने साथ है स्थौलतिष्य सौम्यता की मूर्ति हैं। पुत्र के गंगा में बह जाने के पश्चात् वह कठोरता की मूर्ति बन जाते हैं। इतने कठोर न बनें तो अपनी दौहित्री के विषकन्या बनाने पर उतारु होते ? ध्यान देना चाहिए कि पुत्र को पहचानने के बाद कठोरता की यह मूर्ति स्वयं परम मृदुता की मूर्ति बन जाती है। इस सौम्यता के आते ही वे पहले के जैसे हो जाते हैं। वैदिक तथा बौद्ध-धर्म के सारूप्य को जान लेते हैं।

— 8 —

यहाँ एक और बात की ओर भी ध्यान जाता है। वैदिकी स्थौलतिष्य के पुत्र हैं बौद्ध अमृतपादर्हत। इस मे धर्म सम्बन्धी एक नूतन कल्पना को बापिराजु ने स्पष्ट किया है। तात्पर्य यह है कि उन पिता-पुत्र में जो सम्बन्ध है, वही वैदिक और बौद्धधर्म में है।

इस उपन्यास का प्रधान लक्ष्य वैदिक और बौद्ध धर्मो का सारूप्य निरूपण है। यह किसी अन्य तेलुगु लेखक ने नहीं किया है। यह इस उपन्यास में अतिअद्भुत ढंग से दरसाया गया है।

इस उपन्यास की घटनाएँ उस समय की हैं जब आन्ध्र प्रदेश में बौद्ध-धर्म अपनी चरम उन्नति पर था। सातवाहन बौद्ध हैं। किन्तु उन्होंने सभी धर्मो का समान आदर किया है। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि ऐसा होने पर भी अतिवादी हो वैदिकियों ने बौद्ध धर्म का तिरस्कार कर महाराज को पदच्युत कर राज्य और उसकी सुरक्षा को ही खतरे में डालने का प्रयत्न किया। बौद्ध और वैदिक धर्मों का यह संघर्ष इस उपन्यास में अति उत्तम ढंग से चित्रित हुआ है। इसकी पराकाष्ठा स्थौलतिष्य का दोनों धर्मों के सारूप्य को जान लेने में है। इस उपन्यास में बापिराजु द्वारा प्रतिपादित सर्वधर्म समन्वय (प्रधान रूप से उस समय के दो धर्मों में) की वाणी अमृतपादार्हत के अमृतोपम वाणी से प्रस्फुटित हुई है।

"वेद ही आर्यधर्म हैं। आर्यधर्म का अवतार ही बुद्ध हैं। वेद व्यास की परिणति हुई बुद्ध अवतार में।"

— 9 —

इस उपन्यास में बापिराजु का समग्र व्यक्तित्व अभिव्यक्त हुआ है। सुवर्ण श्री बापुराजु के आदर्शों का प्रतीक है। केवल पात्रों में ही नहीं, समस्त

उपन्यास में बापिराजु ने अनेक विषयों की चर्चा की है। उस समय के सैनिक विधान के बारे में एक अध्याय ही रचा गया है। राजमार्गों का विवरण, वैद्यविधान, शस्त्रशालाएँ, नगर वीथियों का निर्माण, न्याय विधान-आदि के बारे में बापिराजु ने सुदीर्घ विचार किया है। ये सब उनके पांडित्य तथा सूक्ष्म परिशीलन शक्ति के उदाहरण हैं।

इस प्रकार "हिमबिन्दु" तेलुगु साहित्य के उत्तम उपन्यासों में एक है। आन्ध्र के इतिहास को इतने हृदयंगम रूप से चित्रित करने वाले बापिराजु धन्य है।

प्रमुख उपन्यास—४

एकवीरा

श्री जुव्वाडि गौतमराव

'एकवीरा' आन्ध्र का श्रेष्ठ उपन्यास है जिसमें मदुरै के आन्ध्र नायकराजाओं के शासनकाल से सम्बद्ध इतिवृत्त को ले कर धर्मानुगामी प्रेम तथा स्पर्शगुण की विलक्षणता का अप्रतिम चित्रण किया गया है। समग्र सृष्टि की व्याख्या करने में समर्थ श्री विश्वनाथ सत्यनारायण आन्ध्र की महान् विभूति हैं जिनकी लेखनी से यह रचना निसृत हुई है।

स्वयं उपन्यासकार के शब्दों में 'सैलास मैरिनर का कथा-निर्माण, कालिदास, भवभूतियों का शिल्पविधान, रवि ठाकुर के 'नौका डूबी' का अव्यभिचरित प्रेम और मेरा तेलुगु रचना-विधान, इन चारों को मिला कर 'एकवीरा' की सृष्टि की है।'

प्रत्येक भाषा की अपनी विशिष्टता होती है और वह उस जाति के जीवन की विशिष्टता होती है। जाति के जीवन की विशिष्टता उस जाति के लिए प्राणसम है। वह प्राणभूत शक्ति उस भाषा में तथा उसके साहित्य में प्रतिबिम्बित होती है। तभी वह रचना जीवन्त होती है। इस प्रकार की जीवन्त रचना करने के लिए मात्र रचना शक्ति पर्याप्त नहीं है। अनन्त आलोचना शक्ति, जीवन को सहस्र नेत्रों से देख सकने की शक्ति, प्रत्येक विषय में निगुप्त ईश्वरीय शक्ति का परिशीलन करने की शक्ति, संक्षेप में कहना चाहें, तो समग्र सृष्टि की व्याख्या करने की शक्ति होनी चाहिए। केवल समकालीन संसार, उसकी परिस्थितियों, उसकी समस्याओं का ज्ञान ही पर्याप्त नहीं होता। इस विषय पर प्रधानतया मौलिक ढंग से सोचना चाहिए कि असल में उस जीवन की परिस्थितियाँ और समस्याएँ उस रूप में क्यों अवस्थित हैं। इसके लिए परम्परा का ज्ञान आवश्यक है। परम्परा प्राप्त विचारशील प्रवृत्ति, मौलिक मेधा शक्ति इन दोनों के सम्मिलित होने पर ही विश्वनाथ सत्यनारायण जैसा लेखक उत्पन्न होता है।

सत्यनारायण जी महा मेधावी हैं। उनकी मेधा परम्परा के मार्ग पर परिणत है। उनकी रचनाओं में उनकी मेधा सहस्रमुखों में अभिव्यक्त हुई है। उनकी रचना 'वेयिपडगलु' ही वेयिपडगलु (सहस्रफण) नहीं है। उनकी प्रत्येक रचना सहस्रफणों से युक्त है। वे जीवन को सहस्र-वदनों से अनुशीलन करके ही लिखते हैं। यहीं से उनके उपन्यास का उद्भव हुआ है। लेकिन ऐसा कहना न्याय संगत नहीं है। वास्तव में उनकी रचनाओं का उत्पत्ति स्थान मात्र अनुशील नहीं है। यदि हम कहें कि मेधा ही साहित्य का उत्पत्ति स्थान है, तो हम साहित्य के गौरव को कम करेंगे। जीवन की मात्र आलोचना के लिए साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता नहीं है। कई शास्त्र हैं, जिनके अध्ययन से हम जीवन के विधानों तथा जीवन की समस्याओं का परिशीलन तथा परिष्कार कर सकते हैं। इस प्रकार की रचनाएँ साहित्य नहीं

कहला सकतीं। साहित्य का उत्पत्ति स्थान अपेक्षाकृत गम्भीर है। उस समग्र आलोचना का, मेधा-विस्तृति के सर्वस्व का, अपने अन्तस्थल के जीव के स्वरूप का, तथा उसमें निहित परमेश्वर के स्वरूप का स्पर्श करना चाहिए। परमेश्वर के तेज से सदीप्त वेदना की अनुभूति जब इन अनन्त मार्गों से अभिव्यक्त होती है, तभी वह साहित्य के सम्पूर्ण लक्षणों से सुसम्पन्न होती है।

उस वेदना से परिपूर्ण है सत्यनारायण जी की मेधा। उनकी रचनाओं मे सर्वत्र एक प्रकार का आवेश, तीव्रता, प्राणदघ्न अनुभूति, कोई महान भाव परिव्याप्त हो दिखाई पड़ता है। उनकी रचनाओं को पढ़ते समय हमें विवश नथा विह्वल करने वाला यही महा भाव है। यह उनकी रचना-शक्ति परिशीलन-शक्ति, व्याख्या-निपुणता, पांडित्य आदि की अपेक्षा कहीं महान् है। वे अनन्त शिल्पी हैं। उस शिल्प में उनके भाव बिफर नहीं जाते। उनका समग्र शिल्प इसी भाव में, इसी वेदना में समा जाने वाला है। इतने श्रेष्ठ कलाकार होते हुए यदि वे इतनी उन्नत वेदना से युक्त न होते तो शायद इतने महान् लेखक न बनते। उनका सारा साहित्य इसी गगोत्री में पैदा हुआ है। वह साहित्य अनन्त प्रतिभा-मार्गों में से, शिल्प वाहिकाओं में से प्रवाहित हुआ है। वह 'वेयिपडगलु' (सहस्रफण) है, वह 'चेलियलकट्ट' (सागर की वेला) है, वह 'मा बाबू' (हमारे बाबू) है, वह 'एकवीरा' है, वह 'स्वर्गानि कि निच्चेनलु' (स्वर्ग के सोपान) है। ये सब वाहिकाओं के बाहरी नाम-भेद मात्र हैं। वास्तव में देखा जाए तो ये एक ही महा-स्रवन्ती के विभिन्न रूप है। उस स्रवन्ती के द्वारा तेलुगु भाषा, तेलुगु-जीवन, तेलुग-आचार आदि सब परिक्षालित हो कर चमक उठे है। यह है विश्वनाथ सत्यनारायण के साहित्यकार का स्वरूप।

सत्यनारायण जी के प्रत्येक उपन्यास में एक विशिष्ट दृष्टिकोण से जीवन की व्याख्या की जाती है। लोक, उसमें विभिन्न प्रकृतियों का मिलाप उस मिलाप से विभिन्न प्रकृतियों के जीवन में उत्पन्न परिवर्तन, उस परिवर्तन के लिए उन-उन प्रकृतियों में निगुप्त गुण, उन सबसे अतीत किसी महाशक्ति का, अवश ही, उन प्रकृतियों के जीवन मार्गों पर प्रसरित होना, मनुष्य-प्रकृति की विवशता, परिस्थितियों का बल, नियति की अनिवार्यता, परमेश्वर की भावना से रहित जीवन की निस्सारता, उस निस्सारता को समझ न सकने वाली मनुष्य-प्रकृति की अल्पता, परमेश्वर की भावना से संदीप्त दिव्य

अनुभूति, उस अनुभूति की गहराइयाँ, मानव-स्वभाव के हिमगिरि शिखर तथा समुद्र-सी गहराइयाँ, दुःख और उसका स्वरूप. जीवन में और संसार में सर्वत्र ही उस दुःख की उपलब्धि—सब कुछ की अनेक उपन्यासों मे सुष्ठु आलोचना और व्याख्या की गयी है।

'एकवीरा' को ही लें। इस उपन्यास के इतिवृत्त में एक ही प्रधान घटना है। एकवीरा ने वीरभूपति को देखा है और दोनों में परस्पर प्रेम उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार कुट्टान् ने मीनाक्षी को देखा। उन दोनों में प्रेम हो गया। एकवीरा सम्पन्न घराने की सन्तान है। कुट्टान् सेतुपति (सेनापति) हैं। एकवीरा और वीरभूपति अथवा कुट्टान् तथा मीनाक्षी के प्रेम के सफल होने के लिए परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं है। सम्पन्न गृहस्थ की पुत्री किसी ग़रीब की पत्नी कैसे बने ? ग़रीब की पुत्री अमीर की पत्नी कैसे बने ? अतः परिस्थितियों की प्रबलता, उनके प्रेम के विफल होने का प्रबल कारण बना। कथानक की यह पहली मोड़ है, जहाँ परिस्थितियों की प्रबलता प्रेम को असफल बना देती है। यहाँ तक तो कोई साधारण लेखक भी कल्पना कर सकता है। किन्तु इसके आगे एक और मोड़ है। वह है एकवीरा का कुट्टान् की पत्नी बनना। वीरभूति स्थानापति[1] बने और माता-पिता के आग्रह से मीनाक्षी से विवाह किया। कुट्टान् और वीरभूपति मित्र हैं किन्तु दोनों यह नहीं जानते कि अपनी प्रेमिका ही अपने मित्र की विवाहिता स्त्री है। अति विचित्र रूप से संघटित इस परिस्थिति में उस स्थिति की अपनी प्रबलता की अपेक्षा दैवलीला का प्रभाव प्रबल है। इसका ऐसा होना ही नियति की वैचित्री है। यह है घटना की संश्लिष्टता। कोई महारचयिता ही ऐसा कर सकता है। किन्तु यह अलगाव नहीं किया कि नियति क्या है और परिस्थिति क्या है। कथानक का सारा रहस्य इसी में है कि कुट्टान् और वीरभूपति का यह न जानना कि अपनी विवाहित स्त्री के साथ ही अपने मित्र ने प्रेम किया है। विवाह से पहले या उसके बाद ही सही, उन्हें यह ज्ञात हो जाता तो कथा प्रस्तुत रूप में नहीं हो सकती। इसलिए कथानक में जो मर्म है, वह यही है। एकवीरा और मीनाक्षी के प्रेम की कथा को वीरभूपति और कुट्टान् के लिए अपरिचित रख, कथा का निर्वाह करना, मानो तलवार की धार पर चलना है। जब समय आया तब कुट्टान् को मीनाक्षी की बात मालूम हुई है।

1. दूसरे राजाओं से प्राप्त भेंट, उपहार, कर आदि की व्यवस्था करने वाला राज-कर्मचारी।

मीनाक्षी और कुट्टान् मनुष्य मात्र नहीं हैं। उनमें दिव्य प्रकृति है। जिसमें धर्म के संघर्ष का सामना कर खड़े रहने की शक्ति है। एकवीरा और वीरभूपति का स्वभाव भिन्न है। उनका मानव स्वभाव अति कोमल है। इस सुकुमार स्वभाव के कारण ही कथा का यह रूप हो सका। इन दोनों में भी एकवीरा की प्रकृति अधिक सुकुमार है। एकवीरा का यह स्वभाव ही कथागमन का प्रधान विषय है। इस परम सुकुमार स्वभाव का लक्षण कथा में आदि से अन्त तक बहुविचित्र रूप से व्याप्त किया गया है। कारण यह है कि सारी कथा इसी पर आधारित है। इसीलिए उपन्यास का नाम भी 'एकवीरा' रखा गया है। एकवीरा का अर्थ 'करचणाद्यवयववन्त' कोई आकृति मात्र नहीं है। एकवीरा का अर्थ परमसुकुमार स्वभाव है। वह उसमें अवस्थित स्पर्शगुण है। उस स्पर्शगुण की सीमा नहीं है। वायुगत समस्त स्पर्शगुण उसमें है। उसका शरीर स्पर्शगुण का मापदंड है। कितना ही सुकुमार स्पर्श क्यों न हो, वह विह्वल हो जाती है। उस स्पर्श गुण की गम्भीरताओं की थाह लगाने के लिए उसकी आत्मा व्यग्र है। बाहर वर्षा हो रही है। चमेली के लतावितान से बौछार पड़ रही है। एकवीरा ने मानों पंख खोल दिये हैं। वर्षा की बौछार से उसकी छाती भीग उठी। एक पार्श्व तो भीग गया। वर्षा की बौछार का सामना कर उसके स्पर्श में वह आत्मदग्ध हो बैठी है। उसे शरीर की सुध न थी। वहाँ आयी हुई मीनाक्षी के साथ बात तक नहीं करती। यह एकवीरा के स्पर्श गुण की अनुभूति की पराकाष्ठा है। वर्षा के पवन का उसके हृदय पर चुभ जाना क्यों? समस्त स्त्री स्वभाव एकवीरा में अवस्थित है। उसकी समस्त प्रकृति ही स्पर्श गुणमय है। वह समस्त स्पर्श-सुख स्त्री के लिए कहाँ है? वक्षोजों पर। इसीलिए परिरम्भ उसके लिए प्राणान्तक हुआ। इस प्रकार के परम सुकुमार स्पर्शगुण से युक्त होने से ही वह अपने कुचमंडल पर 'वार्षुकवायुहति' (वर्षा के वायु के झोंके) से तन्मय हो सकी। यह एकवीरा की प्रकृति की विशिष्टता है। इस प्रकार की प्रकृति का चित्रण करने के लिए ऐसी घटना आवश्यक है। उस घटना के पीछे कुछ हद तक परिस्थितियों की प्रबलता है, तो कुछ नियति की प्रबलता है। एकवीरा में जो स्पर्शगुण है, वह भौतिक है, पर उसका आश्रय ले एकवीरा ने जो अनुभूति प्राप्त की है, वह दिव्य है। यदि इस स्वभाव का वर्णन न कर सकें, तो यह घटना ही व्यर्थ है। यहाँ तक लिखने वाले लेखक का असफल हो जाना असंभव है। यहीं पर उसकी सफलता या असफलता का पता लग जाता है। शिल्प की दृष्टि से देखें तो कुट्टान् के शयनगृह में एकवीरा और मीनाक्षी की भेंट

'नान्यतोंदर्शनीय' है। स्पर्श गुण से तन्मयता प्राप्त करने वाली एक वीरा ने वीर भूपति के आलिंगन में भी, अधर्म मार्ग में भी इसी प्रकार की अनुभूति प्राप्त की है। कुछ क्षण बाद वह होश में आयी और अपने किये अनुचित कार्य को जान कर विह्वल हो गयी। किन्तु उससे पहले उसके जीव ने जो दीप्ति प्राप्त की, वह विलुप्त नहीं हुई। उस दीप्ति का प्रसरण होता ही रहा। सुन्दरेश्वर उसकी देह पर आविष्ट हो गये। वह सड़क पर दौड पड़ी। उसने पादरी के भाषण का खडन कर दिया। परमेश्वर की दीप्ति से उसका जीव दमक उठा। उस जीव ने चाहा कि एकवीरा के शरीरगत अनैतिक-संस्कार की मलिनता को धो डालें। उसके बाद कुट्टान् को देख कर वह वैगै नदी की ओर दौड़ पड़ी। वह कुट्टान् भी कैसा है? धर्म से संस्कृत आत्मा वाला। उसकी आत्मा में अब एकवीरा जाज्वल्यमान रूप से स्थित है। एक-वीरा उसकी धर्मपत्नी है। उसके साथ सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर का है। भावी जन्मों में भी रहने वाला है। वह ऐसा सम्बन्ध है जिसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। कुट्टान् का मन एकवीरा की ओर उन्मुख हो जाता है। पथभ्रष्ट प्रेम-प्रवाह को उसने एकवीरा की ओर प्रवाहित किया है। एकवीरा के पीछे दौड़ते हुए उसने कहा—एकवीरा, रुक जाओ। लेकिन एकवीरा को उसकी पुकार सुनाई नहीं देती। यह एकवीरा कौन है? जागृत जीव है, उस जीव से भिन्न. शरीर में सक्रमित अधर्म के कलंक से विह्वल बना हुआ। एकवीरा मन से अधर्म को धो डालने के लिए दौड़ रही है। कुट्टान् का प्रेम-प्रवाह उसे रोकने के लिए दौड़ रहा है। इतने में वीरभूपति दिखाई पड़ा कुट्टान् को। कैसा है यह वीरभूपति? संन्यास ग्रहण किया हुआ वीरभूपति। कुट्टान् ने कहा 'वीरा! क्षमा नहीं कर सके।' वीरभूपति ने मुँह मोड़ लिया। यह कैसी घटना है? वीरभूपति में उत्पन्न आक्रोश यहाँ व्यंजित हो कर प्रधान भाव को उद्दीप्त कर रहा है। कुट्टान् वहाँ क्षण भर के लिए भी नहीं रुका। दौड़ कर उसने एकवीरा को पकड लिया। उसे गले लगा लिया। किन्तु एकवीरा उस प्रेम प्रवाह को सह न सकी। उसके शरीर मे वीरभूपति के स्पर्श से उत्पन्न विकार व्याप्त है। उसका शरीर विजातीय स्पर्श को सहन नहीं कर सकता। कुट्टान् के आलिंगन में एकवीरा ठंडी पड़ गयी। कुट्टान् ने उस शरीर को छोड़ दिया। उस शरीर के एड़ी भर गहरी वैगै नदी में गिर पड़ने की ध्वनि हुई। अंधकार में काले कफ़न से ढके मृत प्राणी के समान वैगै नदी निकल गयी। जिस कथा का प्रारम्भ वैगै नदी के वर्णन के साथ हुआ था, उसका अन्त भी वहीं हुआ। एक सुकुमार प्रकृति, उस प्रकृति में

उठने वाले तूफ़ानी झोंके, उनके जीवन में उत्पन्न हलचलें, इन सबसे अतीत धर्म की सर्वोत्कृष्टता, जीवन की वैयर्थ्यता आदि विषयों की इस कहानी में बड़े ही ध्वनिमय रूप से व्याख्या हुई है। इन सबकी व्याख्या करने के उपयुक्त घटना का, कल्पना का, उसका उपक्रम और उपसंहार का बड़ा ही सुन्दर निर्वाह हुआ है।

'एकवीरा' के समस्त कथा में व्याप्त प्रधान गुण स्पर्शगुण है। समस्त कथानक इसी एक विषय पर निर्मित हुआ है। ठीक इसी स्पर्श गुण की 'तेराचिराजु'[1] में दूसरे दृष्टिकोण से व्याख्या हुई है।

'एकवीरा' में हो या 'तेरचिराजु' में जिस वियय की व्याख्या हुई है, वह है जीव समूह की विचित्रता। जीव-समूह की विचित्रता किसी विशेष गुण का आश्रय ले कर प्रकट होती रहती है। श्री विश्वनाथ सत्यनारायण की उपन्यास-रचना में मुख्य रहस्य यही है कि इस गुण को पहचान कर, उस जीव सम्पुटी में उस विलक्षणता को वे अभिव्यक्त करते हैं। इसे वे अनन्त मुखो से करते हैं। जीव के स्वरूप की व्याख्या करने में वे भवभूति के शिष्य हैं। वे भवभूति के समान हैं। 'उत्तरराम चरित' को पढ़े बिना 'एकवीरा' और 'तेरचिराजु' की विशिष्टता समझ में नहीं आती।

---

1. शतरंज के खेल में किसी मुहरे को हटा कर शह देने को, तेलुगु में 'तेरचिराजु' कहते हैं।

कुछ प्रमुख उपन्यास—5

अरुणा

श्रीमती टी. हेम 'लता'

यौन समस्याओं को प्रधानता देने वाले उपन्यासकार श्री चलम् की रचनाओं में 'अरुणा' का विशिष्ट स्थान है।

कमल के पत्ते पर पड़ी हुई जल की बूंद, आकाश से ढलने वाली चन्द्ररेखा की भाँति जन-मन को आप्यायित करने वाली 'अरुणा' का परिचय निश्चय ही पाठक को भावविभोर बनाने में समर्थ होगा। इस अद्भुत पात्र की सृष्टि कर चलम् ने स्त्री के अन्तरंग की गहनता का मनोरम चित्र प्रस्तुत कर निज लेखनी को गौरवान्वित किया है।

आन्ध्र के उपन्यासकारों में चलम् (श्री गुडिपाटि वेंकटचलम्) का विशिष्ट स्थान है। उनकी शैली की—कथाकथन का विधान तथा उपन्यास-रचना की विशिष्ट शैली—विशेषताओं ने तेलुगु साहित्य-क्षेत्र में चलम् को एक प्रधान स्थान प्रदान किया है। उनके उपन्यासों में उल्लेखनीय 'मैदानमु' 'दैवमिच्चिन भार्या,' (भगवान् की दी हुई पत्नी) 'अरुणा' 'शशिरेखा' आदि हैं।

उस महान् लेखक की प्रतिभा शक्ति अनन्य साधारण थी। 'अरुणा' में अरुणा पात्र की सृष्टि केवल उनके लिए ही सम्भव रही। इस प्रकार के पात्र की सृष्टि अन्य लेखक के लिए असाध्य है, यह कहने में शायद ही अत्युक्ति होगी।

आज के उनके 'योगी'[1] जीवन की छायाओं का उसी समय उनकी रचनाओं में दिखाई पड़ना एक और अद्भुत विषय है। 'अरुणा' में अरुणा के घर छोड़ चले जाने से पहले उन्होंने वेदान्त का जो प्रवचन किया है वह अंग्रेजी उपन्यासकारो में केवल सॉमारसेट म म ही कर सकता है। यही नहीं, उनकी 'अनातोल फ्रान्स' से भी तुलना की जा सकती है। थामस और अरुणा में कई समानताएँ हैं। भारतीय साहित्य में चलम् का स्थान असाधारण है। सच पूछा जाए तो समग्र विश्व-साहित्य में ही उनका स्थान अपूर्व है।

फ्रान्स में बाल्जाक और एमिलीजोला, हिन्दी में प्रेमचन्द और बगाली मे शरत् और टैगोर का जो स्थान है, उससे किसी भी तरह कम स्थान तेलुगु उपन्यास-साहित्य में चलम् का नहीं है। शायद श्रेष्ठ स्थान ही हो। क्योंकि चलम् के बाद उनके समान लिखने के लिए प्रयत्न करने वालों की तेलुगु साहित्य में भरमार है। लेकिन किसी को उनके समान सफलता या यश नहीं मिला है। इतना होते हुए भी उन पर एक दोषारोपण किया जाता

---

१. आज कल श्री चलम् संन्यास ग्रहण कर, अरुणगिरि के श्री रमणाश्रम में जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

है। वह यह है कि उनका सेक्स को अधिक प्राधान्य देना। यह पूर्णरूपेण असत्य नहीं है। 'पापम्' 'मंगम्मा', 'दोष-गुण' आदि कहानियों में, 'चित्रांगी', 'शशांक' आदि छोटे उपन्यासों में चलम् ने सेक्स के बारे में अधिक ही लिखा है। यहाँ तक कि उन्होंने महाकवि जयदेव को भी सेक्स-भावना से ऊभचूभ कर दिया है। लेकिन कोई यह नहीं कह सकता कि वह दोष है और उन्हें ऐसा नहीं लिखना चाहिए था। उनकी अद्भुत शैली के प्रभाववश कुछ छोटे-मोटे दोष हों तो भी दिखाई नहीं पड़ते। उदाहरण के लिए उनकी 'एरगने लेदु' (जाना ही नहीं) नामक कहानी अत्यन्त जुगुप्सा भाव को उत्पन्न करती है। मेरा विचार है कि शायद यह गुण प्रत्येक महान् लेखक में होता है। कालिदास का काव्य 'शकुन्तला' यदि कालिदास की रचना न होता, तो अश्लील कथा के ही रूप में प्रसिद्ध हुआ होता। इसी प्रकार पेद्दना[1] की 'वरूथिनी', बाण की 'कादम्बरी', तथा लोक गीतों के नायक-नायिका भी सेक्स की भावना से असम्पृक्त नहीं हैं। रस-राज शृंगार को अपने वर्णनों द्वारा केवल सेक्स कह कर घिन पैदा कराने वाले रूप में यत्र-तत्र चित्रित किया है, लेकिन 'अरुणा' की रचना कर चलम् ने मानो अपनी इस निन्दा को धो डाला है।

अरुणा एक अद्भुत व्यक्ति है। एक ही समय चार पुरुषों के साथ सहवास करती हुई, चारों से विरक्त हो कर, सब को छोड़-छाड़ कर चली जाने वाली अरुणा की सृष्टि अपूर्व है। इस रचना से यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि चलम् को विवाह-व्यवस्था पर विश्वास नहीं है। प्रायः विवाह-व्यवस्था का तिरस्कार करने वाले लेखक विरले ही दिखाई पड़ते है। 'अरुणा' में चलम् ने इसी परम अर्थ को व्यक्त करना चाहा, लेकिन यह परम अर्थ है या नहीं, इसे समय ही सिद्ध करेगा।

जीवन भर काँटों में, धूल में, द्वेष में, निन्दा-अफ़वाहों के मध्य यथेष्ट निर्मलता के साथ समय बिता कर, उतनी ही पवित्रता से रह सकने वाले बहुत कम है—कमल के पत्ते पर जल की बूंद, आकाश से नीचे ढलने वाली चाँदनी की रेखा—अपने मार्ग के प्रत्येक व्यक्ति के हृदय पर अपने चरण चिह्नों को अंकित करते हुए जाने वाली मोहिनी है अरुणा!

इस पात्र की अद्भुत सृष्टि कर चलम् ने एक और बार स्त्री के अन्तरंग को अथाह सिद्ध किया है। स्त्री हो या पुरुष, एक समय में एक ही

1. विजयनगर के श्रीकृष्णदेवराय के अष्टदिग्गजों में प्रथमगण्य कवि जिन्होंने 'स्वारोचिष मनु संभव' (मनुचरित्र) नामक प्रबंध काव्य की रचना की थी।

व्यक्ति को चाहे, इसी को पातिव्रत्य या पत्नीव्रत समझने वाले युग में अथवा कम से कम ऐसा मान कर आत्मवंचना करते समय—अरुणा की सृष्टि कर निश्चित रूप से यह दर्शाया कि स्त्री का हृदय विचित्र है। लेकिन उस विचित्रता को प्रकट रूप से दरसाने वाली स्त्री के साथ पुरुष-प्रेम तो कर सकता है, पर उसके साथ निर्वाह नहीं कर सकता। इसलिए चलम् का कहना है कि वह स्त्री आकाश से ढलने वाली चाँदनी की रेखा के समान—जैसे आयी वैसे ही पिघल जाती है।

यह दोष है—स्त्री को एक ही समय में चार-पाँच पुरुषों को आकर्षित नहीं करना चाहिए। अथवा ऐसा करे तो भी उसे छिपा कर रख लेना चाहिए। लेकिन अरुणा ऐसी नहीं है। उसने चार पुरुषों को आकर्षित किया है। वे चारों एक-दूसरे से द्वेष-ईर्ष्या रखते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने को ही उसका आत्मीय मानता है।

चूडियाँ साठ प्रकार की चूड़ियाँ, लम्बी-लम्बी उँगलियाँ, 'विश्वनाथ सुगंधित तेल' के परिमल को बिखेरती हुई घुँघराली लटें, घंटानाद-सी हँसी-'सहारा' (रेगिस्तान) के ऊँटों के गले में 'गार्डेन आफ़ अल्लाह' नामक सिनेमा में सुनी हुई घंटियों की याद दिलाने वाली हँसी—एक बार सुनने के बाद जीवन में शान्ति के सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाने का स्पष्ट ज्ञान कराने वाली हँसी—वह है कौन ? अरुणा है। इस प्रकार अरुणा का परिचय कराते हैं चलम्। वह अपने प्रथम मित्र के पास जाती है—उस मित्र की साँस रुक जाती है। रक्त का प्रवाह रुक जाता है—यहाँ एक विचित्र-सी बात है कि वह अनुभूति शारीरिक नहीं है। एक प्रकार की मादकता है—एक प्रकार की आत्मीयता है और एक प्रकार का स्नेह—इनसे अपूर्व एक अव्यक्त दिव्य अनुभूति है। वह अनुभूति उसकी समझ में नहीं आती। वह समझना भी नहीं चाहता। एकदम उस माधुर्य में डूब जाने से उसका दम घुटने लगता है।

कहता है "अरी, तुम आयी कैसे ? ऐसे डरा क्यों दिया ?" तब उसके अन्तर की हँसी अधरों पर आती है—ताम्बूल से लाल बने अधरों पर, भीतर की लालिमा—लेकिन आँखें अथाह रूप से भीतर धँसी हुई हैं। अरुणा की आँखे किसी की ओर नहीं देखतीं। अगर देख लिया तो उन आँखों की गहराई को जाने बिना नहीं छोड़तीं। तब उनसे विमुक्ति नहीं। जो उन चितवनों का शिकार बनता है, मानों वह युवक भँवरों में फँस गया, अजगर के मुँह में फँस गया। पागल-सी चितवनें—उन चितवनों की थाह लेने के लिए प्रत्येक हृदय

में आशा बनी रहती है। उन्हें देख राजकुमारी के प्रश्नों का जवाब देने के साहस से अपना सिर सौंप देने वाले मूर्ख राजकुमार का स्मरण हो आता है। लेकिन यहाँ सिर नही हृदय है। किन्तु वे लोग कहते है कि सिर का कट जाना ही कम पीडाजनक है। उस क्षण हमें लगता है कि वह कितनी अद्भुत स्त्री होगी—एक बार हमें भी दिखाई पड़े तो कितना अच्छा होगा।

अरुणा कहती है कि "अरे पगले ! तुम्हें जब ऐसा अकेला देखती हूँ तब लगता है कि इस बेचारे के साथ रह जाऊँ। तुम्हारे कपड़े धोते हुए, तुम्हारे साथ बातें करते हुए रह जाऊँ। पर यह निगोड़ी दुनिया रहने दे तब न।"

यही नहीं, 'अब की तुम्हारे पास ही रह जाऊँगी' कह कर उसे आशा दिला कर, दूसरे ही क्षण कलम और काग़ज़ माँगती है। वह लम्बी साँस छोड़ कर उन वस्तुओं को ला देता है। आकाश में उड़ने वाली चिड़िया को बुलाते ही रहें, तो क्या फ़ायदा—उसे तो अपनी इच्छा से वर प्रदान करने चाहिए। प्रार्थना और आँसू उस पर काम नहीं करते। लेकिन जब उसकी इच्छा होती है, तो दूसरों के मन में ऐसा भाव पैदा कर देती है कि मानों वह प्रार्थना तथा आँसुओं के वश हो, आ गयी हो। इस प्रकार बातें करती है, मानों सभी असत्यों पर उसी का एकाधिकार है।

'अरे जा ! दुष्ट !' कह कर वह कुर्सी में बैठ कर लेखन कार्य में मग्न हो जाती है। अरुणा का यही गुण दूसरों को चकरा देता है—मन पर तीव्र रूप से जादू डालने वाला होता है – वह महान् तथा भयंकर गुण है। जिससे उसके मन का लगाव रहे, उसी पर सब कुछ—शेष लोक मुँह बाये रोता रह जाता है।

कितनी विचित्र स्त्री है अरुणा ! किसी एक विषय में इतना तल्लीन हो जाना सम्भव कैसे होता है ? उसके आकर्षण का यही कारण है। वह कहती है 'प्रेम का सौदा कर ले'। अर्थात् प्रेम को खरीदना चाहिए। प्रेम का दाम देना पड़ता है।

सौन्दर्य की नगरी में हृदय रूपी यात्री प्रेम की याचना कर रहा है। ग्रामोफ़ोन पर के० सी० डे० का रिकार्ड बज रहा है। सच है, रूप-नगर में दिल मुसाफ़िर ! प्रेम का सौदा कर ले ! इसका दूसरा अर्थ लगाती है अरुणा। वह कहती है कि रूप नगर में हृदय यात्री है। प्रेम को खरीद लेना

चाहिए। तकिये पर बने लाल फूलों के मध्य अरुणा का मुख मानों एक नये फूल जैसा था।

'यह तकिया—उस गाँव में, जब मैं दूकान से बाहर आ रही थी, तब कोई किवाड़ के सामने खड़ा हो गया। ब्रुश के समान उसकी मूँछें—घंटे भर से मेरी गाड़ी के पीछे साइकिल पर आ रहा था—ये पुरुष-कुत्ते हैं। उदास मत बनो। तुम नहीं……।

"कुत्ता या पुरुष ? क्या नहीं हूँ ?" वह पूछता है और अरुणा की हँसी !

"यही नहीं, जूतों का, तकिये का और टी केस का बिल उसी ने चुकाया।"

"फिर वे कहाँ ?"

"जूते तो शकुन्तला को दे दिये, माँगने पर।' 'होल्डआल' (बिस्तर) चन्द्रशेखरम् की कार में भूल गयी—टी केस टूट कर चकनाचूर हो गया। अन्त में बचा यह तकिया ही—यह भी तुम्हें दे दूँगी।" कितना विचित्र स्वभाव है उसका ! आसानी से प्राप्त सौभाग्य को उतनी जल्दी त्याग देने का साहस सबमें नहीं होता।

छोटी बिटिया को बातों में भुला कर पनघट पर जाने वाली माता के समान, उसे हँसाती हुई चली जाती है अरुणा। तब वह कहता है कि "मन… यह सब मन का रचा हुआ इन्द्रजाल तो नहीं ! कारणों का पता किसे है ? मैं क्या भगवान् हूँ ? या साइकोएनालिस्ट ?"

यही नहीं। अरुणा का व्यक्तित्व ही विचित्र है। वह किसी से भी प्रगाढ़ अनुराग की भावना नही रख सकती सबको अपने चारों ओर घुमा कर, एक प्रकार का स्नेह उन्हें प्रदान कर, उन्हें आनन्दित करने में, वह किसी अव्यक्त आनन्द का अनुभव करती है।

वह कहता है—"इतने वर्षों की आराधना के बदले मुझे मिले हैं, एक शीतल चितवन—एक प्यारा नाम और एक कर-स्पर्श—बस इतना ही।"

अरुणा के बारे में अपने जो विचार हैं, चलम् उन्हें उस पुरुष-पात्र के मुख से कहलाते है—"ठीक है, मुझे विश्वास दिलाने के लिए और क्या करना चाहिए ? देवता को कामरूपिणी जिस प्रकार से, जितनी तीव्रता से मोहित करना चाहती है, उतने रमणीय रूप से, सम्पूर्ण रूप से और उतने विचित्र

रूप में मोह सकती है। उस प्रकार की स्त्री से पुरुष उससे अधिक क्या अपेक्षा करेगा ? लेकिन यह नर पशु उस देवता से, उस कोयल से चाहता है कि वह अपने लिए भोजन बनाये, अपने कपड़े धोये और चरणों को पखारे। कहता है कि यही पातिव्रत्य है। इसी को प्रेम भी कहता है।" चलम् के शब्दों में यह अत्यन्त घोर अन्याय है। उन्होंने स्त्री को पवन-सम, ज्योत्सना सम, वर्षा में निखरे हुए परम सुन्दर और सहज अपूर्व रूप के समान चित्रित किया है।

किसी ने उससे पूछा कि "क्या तुमने मुझसे प्रेम किया है ?" तो वह खीज कर कहती है "प्रेम.. प्रेम . अरे उससे तुम्हें क्या ? इस क्षण मैं तुम्हारी हूँ। पहले क्या थी और आगे चल कर क्या बनूँगी, इससे तुम्हें क्या मतलब ?"

किसी-किसी का प्रतिरूप है अरुणा।

'अति मनोहर गीत सुनते हुए यह क्यों पूछते हो कि कौन-सा ताल है ? कौन-सा राग है ? इसका मतलब, उस संगीत का रसास्वाद करना तुम्हें नहीं आता। पहले क्या थे ? और आगे चल कर क्या बनोगे ? ये सब तुम्हें क्यों ? स्वच्छ चाँदनी में बैठ कर यह चन्द्र अस्तंगत हो जाएगा अथवा कल उदित नहीं होगा, ऐसा सोच कर रोने वाले अभागों से मुझे चिढ़ है। चन्द्र कब तक प्रकाशित रहेगा ? ..अगर सदा के लिए प्रकाशित ही रहे तो क्या तुम सो जाओगे।"

इन थोड़े-से शब्दों में कितने महान् दर्शन का उपदेश दिया है उसने। वह कहता है कि "हमारे ललाट पर जो सौभाग्य न लिखा हो, वह हमारे पास आये तो भी हम उसे सह नहीं सकते। अरुणा भी ऐसी है।"

उनका (चलम्) व्यक्तित्व महान् है अतः वे कहते हैं कि इस सफल आनन्द की अपेक्षा वह अतृप्त वेदना ही अधिक वांछनीय है। सुख-दुःख के जिन तरंगों पर यह संसार हिलोरें ले रहा है, क्या सुख-दुःख का वह भेद सच्चा है ? आनन्द के प्राप्त होते ही कई वर्षों के दुःख को ऐसा भूल जाते हैं कि कभी उसका अनुभव ही न किया हो।" सचमुच अरुणा चलम् की अपूर्व सृष्टि है।

अप्रत्याशित रूप से ही इतने लोगों को आकर्षित करने वाली अरुणा भी कभी-कभी अपने दैन्य पर दुःखी होती है। थक कर वह कहती है—"कौन-सा कष्ट है मुझे ? दुनिया का ऐरा-गैरा मुझे रुला रहा है। यह है क्या ?

सृष्टि के आदि से स्त्री में पुरुष के प्रति विश्वास और अविश्वास के परिणाम को लाखों बार देखने वाले नक्षत्र मानो खिलखिला पड़ते हैं। वे चारों पुरुष उसे देवता कहते हैं। उस विचित्र प्रकृति तथा सौभाग्य से युक्त स्त्री की गति अन्त में क्या होती है ? इस विश्व सौन्दर्य को कौन अपने में सँजोए रख सकता है ?

इतने में पति उसके पास आ जाता है। आ कर पूछता है कि "मैंने तुम्हारे लिए क्या कमी की है ?" स्त्रियाँ इस प्रश्न का जवाब कैसे दें ?

सौन्दर्य की आराधना करना--यह चाहना कि वह हमारे अपने लिए रह जाए--इन दोनों में कोई समन्वय नहीं है। अरुणा के लिए मित्र ही नहीं, पति भी ऐसा ही है।

वह आश्चर्य चकित रह जाती है कि "क्या मैं मनुष्या नहीं हूँ ? मेरे सौन्दर्य पर मेरी अपेक्षा इन्हें अधिक अधिकार कैसे ? मुझे अपनी इच्छा के अनुसार क्यों नहीं जीने देते ? हर एक आदमी अपने विषय में जिन नीति-नियमों को नहीं चाहता, उनको दूसरों के सिर मढ़ने का क्यों प्रयत्न करता है ?"

लेकिन हमें ऐसा लगता है कि अरुणा जैसी स्त्रियों को अधिक संख्या में हम नहीं निभा सकते। एक सूर्य से ही हमारा काम निकल रहा हो, तो और एक सूर्य की क्या आवश्यकता है ?

अरुणा जैसी स्त्री की समाज को कोई आवश्यकता नहीं है। अनेक लोगों को अनेक प्रकार से आकर्षित कर सकने वाली अरुणा—पति को भी अपने आकर्षण में ऐसा आबद्ध कर लेती है कि वह उसके दोषों को क्षमा कर देता है। किन्तु इस पात्र की उदात्तता एक विषय में पतित हो जाती है। वह इसमें है कि वह झूठ बोले बिना और प्रेम का अभिनय किये बिना नहीं रह सकती।

अपने मन की घृणा को स्पष्ट रूप से प्रकट न कर सक, उसे दूसरों के सामने प्रकट कर दुःखी होना—अरुणा जैसी साहसी और क्रान्तिकारी स्त्री नहीं कर सकती। वहीं उस पात्र के चरित्र-चित्रण में दोष आया है। और एक बात, घृणा को छिपा कर प्रेम का अभिनय तो नीच स्त्री ही करती है।

एक ही समय में चार पुरुषों के साथ प्रेम करना—विचित्र-सा या बड़प्पन-सा लग सकता है, किन्तु चारों पर प्रेम का अभिनय कर सकना इसे तो एक प्रकार से दुर्भाग्य ही मानना चाहिए। तिस पर ऐसे प्रेम से कोई लाभ नहीं।

'तरुणारुण से रंजित धरणी' इस गीत को सुन कर, 'यह अरुणा तरुणा नहीं है' कह कर होंठ काट सकने वाली अरुणा कहती है :

"मेरे सौभाग्य-देवताओं ने पहले ही मेरे भविष्य का निर्णय कर दिया है—मेरे पास इस शरीर को छोड़ और है क्या ? न धन है, न संगीत। इस संसार को अपना बना कर आर्कषित कर सकती हूँ। यह सौन्दर्य ही देवताओं से दिया गया एक वरदान है। जब-जब उस वरदान का प्रयोग किया इस ससार ने मुझे काट खाया है। किन्तु इस अन्धकार में आकाश थोड़ा-थोड़ा खुल रहा है।"

"नये प्रकार के आनन्द के लिए नया द्वार कुछ-कुछ खुल गया है। इस शरीर का, इस भार का अतिक्रमण कर उड़ने का प्रयत्न करूँगी।"

लगता है कि चलम् को यह लिखना चाहिए था कि अरुणा झूठ बोलती है और प्रेम का अभिनय करती है।

ऐसी स्त्रियाँ प्रेम करना तो चाहती हैं पर प्रेम नहीं करतीं। उनके इस निरन्तर के अन्वेषण में, उनकी अति उन्नत अभिरुचि में, आदर्शों में और उनके सपनों में कोई एक व्यक्ति बना रहता है। वह व्यक्ति उसकी ओर हाथ बढ़ा कर उसे बुलाता है। उस बुलावे के खिचाव को न सह सक दौड़ने वाली उस स्त्री के वेग को देख कर दुनिया चकित रह जाती है। अरुणा जैसी स्त्रियाँ तड़पती रहती हैं कि मुझे मानव और मानव में कोई भेद दिखाई नहीं पड़ रहा है। इससे अधिक मुझे और कुछ चाहिए। यह विचार ससार की दृष्टि में दोष-सा दीखता है। वह लोगों का भी दोष नहीं है। जिस दिन संसार में इस तड़प तथा वेदना को स्वीकारा जाए उस दिन सामाजिक व्यवस्था में उलट-फेर हो जाएगा। बुद्धिमान मनुष्य के युगों के श्रम पर निर्मित इस सामाजिक जीवन को अरुणा जैसी व्यक्ति नींव से उखाड़ फेंकने का प्रयत्न करे, तो समाज को चुपचाप नहीं बैठना चाहिए। बैठता भी नहीं।

चलम् डरते-डरते तथा संकोच के साथ कहते हैं कि "उसके सपनों में जो पुरुष है, वह भगवान है।" वैसे डरते हुए कहने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि अरुणा को पचा सकने वाला वह एक ही है। यही नहीं, वे इन चारों मित्रों को कम प्राधान्य दे कर, उस भगवान को ही अधिक प्राधान्य देते, तो अच्छा रहता।

जिस दिन सब सोते रहते हों तब 'सुनो मुसाफिर बजता डंका' वाले गीत को सुन कर अरुणा बेहाल हो जाती है। सबको जगाती है कि रेलगाड़ी

का समय हो गया है। पर, न कोई जागता है; और न कोई उसका साथ ही देता है।

"सुनो मुसाफिर बजता डंका।"

सब के लिए एक ही रेलगाड़ी नहीं है। किसी की तीन बजे है, तो किसी की छः बजे और किसी की दस बजे। 'मेरी रेलगाड़ी तो छः बजे ही आयी। 'गुड़बाई टु ऑल' कह कर चली गयी अरुणा। वह फिर लौट कर नहीं आयी।

हुआ क्या ? आनन्द से तरंगित जीवन को यों ही घास के तिनके-सा तज कर, जीवन-जलधि के थाह को आँकने के लिए कूद सकना सबको नहीं आता। आत्महत्या पराजय की निशानी है। अरुणा ने ऐसा किया हो, ऊहुँ, विश्वास नहीं होता।

रागमयी अरुणा विरागिनी हुई हो ! नहीं तो अपने सौन्दर्य को मेघों तथा फूलों की पंखुडियों में विलीन कर दिया हो !

चलम् का कथन है कि जीवन मे कुछ शरीरों तथा कुछ भावों के लिए जिस प्रकार स्वर्ग के द्वार खोल दिये गये है, उसी प्रकार आत्मा तथा आध्यात्मिक सन्देहों के लिए भी अरुणा कभी द्वार खोल देगी।

कुछ दोष और कुछ ऐसे सिद्धान्त हो सकते हैं, जिन पर चलम् का विश्वास था, पर वे संसार से उन्हें मनवा न सके। जो भी हो अरुणा चलम् की अद्भुत सृष्टि है।

कुछ प्रमुख उपन्यास–6

वेयिपडगलु

डा. दिवाकर्ल वेंकटावधानी

अपने गुण विशेष तथा परिमाण की दृष्टि से 'वेयिपडगलु' (सहस्रपण) आन्ध्र का बहुचर्चित उपन्यास है। यह रचना मन्दिरों तथा तत्सम्बन्धी धार्मिक रूढियों को प्राधान्य देने वाले प्राचीन पीढ़ी के लोगों की मनोवृत्तियों तथा वृत्तान्तों को सुन्दर ढंग से चित्रित करती है। यह उस समय के समाज का समग्र प्रतिबिम्ब है। सहस्रफण मानो बहुमुखी भारतीय धर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं। मन्दिर, साहित्य, विभिन्न देशी समस्याएँ आदि द्वारा अभिव्यक्त होने वाले हिन्दू धर्म का तत्त्व ही इस उपन्यास का मूलाधार है।

इस उपन्यास में जीवन का ऐसा कोई विषय नहीं छूट गया है, जिसकी चर्चा न की गयी हो। लेखक ने अनेक ग्रन्थों का अध्ययन कर, उनके साररूपी विषयों का संग्रह किया है। अतः इस उपन्यास को विश्व कोश का महत्त्व प्राप्त है।

उदात्त तथा रमणीय वर्णनों से युक्त यह उपन्यास मानों गद्य में रचित महाकाव्य है।

आधुनिक आन्ध्र के रचयिताओं में श्री विश्वनाथ सत्यनारायण सर्व प्रकार से अग्रगण्य माने जा सकते हैं। महाकवि, गीतकार, उपन्यासकार, आलोचक, नाटककार, कहानीकार, वक्ता आदि सभी रूपों में, आन्ध्र-देश मे इनकी प्रतिष्ठा अप्रतिम है। आन्ध्रवाङमय की साहित्यिक विधाओं में कोई ऐसी नहीं, जिस पर इन्होंने लेखनी न चलायी हो और चला कर उस प्रक्रिया को चमकाया न हो। संसार में प्रतिभावान् तो कई होते हैं, पर इतनी साहित्यिक विधाओं में एक साथ अपनी प्रतिभा का प्रयोग करने वाले मेधावी बिरले ही होते हैं। श्री विश्वनाथ सत्यनारायण जितने प्रकांड पंडित हैं उतने ही प्रतिभावान कवि हैं, जितने बड़े कवि हैं उतने ही श्रेष्ठ आलोचक हैं, जितने समर्थ आलोचक हैं उतने ही प्रभावशाली वक्ता हैं, जितने मेधावी हैं उतने ही सहृदय भी। इतने महनीय गुणों का एकत्र सम्मिलन ब्रह्मा की सृष्टि में ही अपूर्व है। आन्ध्रदेश में उस प्रतिभा का जन्म लेना सचमुच आन्ध्रों का सौभाग्य है।

सन् 1918 में श्री विश्वनाथ ने अपने प्रथम उपन्यास 'अन्तरात्मा' की रचना की थी। तब से ले कर आज तक अविच्छिन्न रूप से ये उपन्यासों की रचना करते आ रहे हैं।[1] इनका दूसरा उपन्यास (1925) 'एकवीरा' कथा संविधान में, चरित्र चित्रण में, वर्णन की कुशलता में अद्वितीय है और संसार के श्रेष्ठ उपन्यासों में उसकी गणना हो सकती है। इन्होंने सन् 1934 में 'वेयिपडगलु' (सहस्र फन) नामक बृहत् उपन्यास की रचना की थी। आन्ध्र विश्वविद्यालय ने इस उपन्यास को पुरस्कृत किया था। उसके बाद प्रकाशित उपन्यासों में 'मा बाबू' (हमारे बाबू) (1935), चेलियलिकट्ट (समुद्र की बेला) (1935), बद्दन्न सेनानी (1938), धर्मचक्रम् (1942), स्वर्गानिकि निच्चेनलु (स्वर्ग के सोपान) (1950), पुराण वैरि ग्रंथमाला के अन्तर्गत

1. अभी हाल में इनका 'पुनर्जन्म' नामक उपन्यास प्रकाशित हुआ है।

12 उपन्यास (1958-61) 'विष्णु शर्मा इंग्लीषु चदुवु' (विष्णु शर्मा की अंग्रेज़ी पढ़ाई), 'वल्लभमंत्री', 'बाणावती' (1965) 'मिहिरकुलुडु' (1965) आदि स्मरण मात्र से स्मृति-पथ पर आने वाले उल्लेखनीय उपन्यास हैं। इतने अधिक उपन्यास लिखने पर भी कथा-निर्माण में हो या वर्णन में, या सामाजिक परिस्थितियों के चित्रण में किसी अन्य विषय में हो, पुनरुक्ति दोष का न होना अत्यन्त आश्चर्य का विषय है। श्री सत्यनारायण उपन्यासों को अपने हाथ से लिखते नहीं हैं। आशुरूप से कहते जाते हैं और किसी से लिखवा देते हैं। फिर उन्हें दुबारा पढ़ते भी नहीं। इतना होने पर भी उन रचनाओं का रचना-शिल्प अपनी सुघड़ता से पाठकों को आश्चर्यचकित करता है। उपन्यास की रचना में उनकी प्रतिभा अन्यतम है। आदिशेष के समान वे सहस्रशीर्षों से सोच कर, द्विसहस्र रचनाओं से कह देते हैं। यह प्रतिभा वरप्रसाद-लब्द है, कोई साधारण-सी बात नहीं।

— 2 —

अपने गुण विशेष से ही नहीं, परिमाण की दृष्टि से भी श्री विश्वनाथ सत्यनारायण के उपन्यासों में 'वेयिपडगलु' का उल्लेख सर्वप्रथम होना चाहिए। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि तेलुगु में इतना बड़ा और इतना विशिष्ट गुण सम्पन्न उपन्यास दूसरा नहीं है। यह रचना मंदिरों तथा तत्सम्बन्वी धार्मिक रूढ़ियों को प्राधान्य देने वाले प्राचीन पीढ़ी के लोगों की मनोवृत्तियों तथा वृत्तान्तों को आकर्षक रूप से चित्रित करती है। इस प्रतीकात्मक उपन्यास में रामेश्वर शास्त्री हिन्दू धर्म तथा संस्कृति के समग्र महत्त्व के परम प्रतिनिधि माने जा सकते हैं। उनका पुत्र धर्माराव प्रतिकूल परिस्थितियों में भी पिता के आदर्शों को यथातथ्य रूप में अनुसरण करने का प्रयत्न करता है। क्रमशः 'चटाई के नीचे पानी के समान' अज्ञात रूप से देश को आक्रान्त करने वाली विदेशी सभ्यता की बाढ़ का उसे सामना करना पड़ा। विदेशी शासन के प्रति जनता में जो विमुखता उत्पन्न हुई उसने जनता में देशभक्ति को प्रस्फुटित करने के साथ-साथ भारतीय संस्कृति की महानता की ओर भी आकृष्ट किया। असहयोग तथा स्वदेशी आन्दोलन इस उपन्यास के ताना-बाना बने हुए हैं। इसमें राघवराव राष्ट्रीय भाव का मूर्तिमान प्रतीक है। राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति के साथ-साथ विस्मृत प्राय भारतीय परम्पराएँ पुनः जागृत होने लगीं। किसी जाति के जीवन में ऐसी शुभ घटना एक ही बार घटित होती है। श्री सत्यनारायण ने इस उपन्यास में उसे

बड़ी ही प्रतिभा के साथ चित्रित किया है। इस दृष्टि से देखा जाए तो यह उपन्यास उस समय के समाज का समग्र प्रतिबिम्ब माना जा सकता है।

— 3 —

कथा की कल्पना में लेखक ने जो निपुणता दिखायी है, वह अत्यन्त प्रशंसनीय है। अति दीर्घ वर्णनों, आलोचनाओं तथा समग्र व्याख्याओं के साथ महासमुद्र के समान दिखाई पड़ने वाले इस उपन्यास में स्थूल रूप से देखने वालों को वस्तु-संविधान में एकसूत्रता के अभाव का सन्देह हो सकता है। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से कथावस्तु का अध्ययन किया जाए तो यह सन्देह निश्चय ही दूर हो जाएगा। इस उपन्यास में प्रतिपादित प्रधान विषय एक ही है। वह यह है कि भारत में सनातन धर्म का क्रमशः दुर्बल पड़ जाना। यह विषय इस उपन्यास में अविच्छिन्न तथा अनुस्यूत रूप से विद्यमान है। लेखक ने धर्माराव के दोनों विवाहों का तथा उस समय की परिस्थितियों का, उपन्यास के आदि और अन्त में एक-सा वर्णन किया है। उपन्यास में वस्तु की एकता तथा उसके प्रधान प्रयोजन को व्यक्त करने के लिए ही इस पद्धति को अपनाया गया है। सच पूछा जाए तो दूसरी अरुंधती धर्माराव की दूसरी पत्नी नहीं है। यह कहना संगत होगा कि पहली अरुंधती ने इस प्रकार पुनर्जन्म लिया है, या उसकी आत्मा ही इसमें प्रविष्ट हुई है। वह एक अवतारमूर्ति है। देह की अपेक्षा आत्मा को ही प्राधान्य देना चाहिए न! ऐसा न कर आधिभौतिक तत्त्व पर ही अधिक आदर दरसाएँ तो आध्यात्मिक तत्त्व के दृष्टिगोचर न होने में आश्चर्य ही क्या है?

इस उपन्यास की कथावस्तु सुब्रह्मण्य स्वामी के सहस्र फणों पर आधारित है। वे सहस्रफण बहुमुखी भारतीय धर्म के मानो प्रतिनिधि हैं। उनमें चार तो चतुर्विध पुरुषार्थों के प्रतिनिधि हैं, तो दो दाम्पत्य धर्म के। जब तक धर्म का पूर्ण रूप से पालन होता था तो सर्परूपी सुब्रह्मण्य स्वामी सहस्र फणों के साथ विराजमान थे। धर्म के लुप्त होते-होते उनके फण भी लुप्त होने लगे। अन्त में बात यहाँ तक आयी कि यह सन्देह भी उत्पन्न हुआ कि भारत देश से दाम्पत्य-धर्म भी उठ जाएगा। अरुंधती के मर जाने पर सुब्रह्मण्य स्वामी के शेष दो फणों में से एक घायल हो गया। पहली अरुंधती जब दूसरी अरुंधती में प्रविष्ट हुई तब वह घायल फण पुनः अक्षत हो कर, अपने सौष्ठव के साथ शोभायमान हुआ। मानों स्वामी ने अभिव्यक्त किया कि यदि केवल दाम्पत्य धर्म अक्षुण्ण बचा रहे तो भारतीय संस्कृति के पुनरु-

द्वार की आशा बनी रहेगी। गणाचारी अपने गीतों तथा बातों में स्वामी के विचारों को कई बार व्यक्त कर ी रही।

— 4 —

उपन्यास, आंग्ल साहित्य के सम्पर्क से उत्पन्न साहित्यिक-विधा है। पिछले दो-तीन शताब्दियों में आंग्लदेश में उपन्यास ने आश्चर्यजनक विकास को प्राप्त किया। संसार प्रसिद्ध पश्चिमी उपन्यासों का अनुशीलन करें, तो 'वेयिपडगलु' के वस्तु संविधान में अनावश्यक विषयों का विस्तार दृष्टिगत नहीं होगा। इस उपन्यास के विविध विषय रूपी मुक्तामणियों को एक सूत्र में गूँथने वाला है धर्मराव का वृत्तान्त। आधुनिक वातावरण में भी अक्षत हो खड़े रहने का प्रयत्न करने वाले सनातन धर्म का धर्मराव दृढ़ प्रतीक है।

'वेयिपडगलु' में कहीं-कहीं कतिपय अलौकिक तथा धार्मिक विषय दृष्टिगोचर होते हैं। इनके आलंबन हैं 'गणाचारी' तथा 'पसिरिका' नामक दो पात्र। गणाचारी जैसे व्यक्ति आज भी भारत के कई प्रान्तों में दिखाई पड़ते हैं। आज भी भारतीयों का दृढ़ विश्वास है कि भक्ति भाव से अनुप्राणित हो, भगवद्-अंश से आविष्ट हो कर कुछ लोग भविष्य को बता सकते हैं। लोग भी उस प्रकार के व्यक्तियों के दर्शन कर अपने भविष्य को जानने के इच्छुक बने रहते हैं। पसिरिका का पात्र प्रतीकात्मक होने पर भी पूर्णतया काल्पनिक नहीं है। अनोखी आकृतियों तथा विचित्र स्वभाव वाले व्यक्तियों के जन्म के बारे में हम कभी-कभी समाचार पत्रों में पढ़ते ही रहते हैं। यह सच है कि ऐसे व्यक्ति बिरले ही होते हैं, पर होते जरूर हैं। पसिरिका ऐसे ही विचित्र व्यक्तियों में से है।

— 5 —

प्राचीन भारतीय सामाजिक विधान में ज़मींदारी प्रथा का अत्यन्त प्राधान्य है। 'वेयिपडगलु' उपन्यास की कथावस्तु इसी ज़मींदारी प्रथा रूपी नींव पर आधारित है। लेखक न तो उस व्यवस्था का समर्थक है न विरोधी ही। उस युग की परिस्थितियों का उन्होंने यथातथ्य वर्णन कर दिया है। उस विधान के गुणों का वर्णन करते हुए उसकी क्रूरताओं तथा आर्थिक विषमताओं का भी चित्रण किया है। धर्मराव को जिन-जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, उन्हें देख कर उस विधान के अवगुण स्पष्ट हो जाते हैं। 'असिरि' पाकेटमार है। वह साम्यवाद के बारे में बोलता

रहता है। समाज में जो विषमता है तथा धनिकों के जो अनुचित कार्य हैं, उनका वह परम विरोधी है। लेखक का आशय हो सकता है कि उन पद्धतियों का सहारा लेने वालों में भी, रेगिस्तान में 'ओयसिस' (शाद्वल स्थान) के समान शायद कुछ सज्जन हो सकते हैं। गोपन्ना और नायर ऐसे 'ओयसिस' रूपी सज्जन-वर्ग के प्रतिनिधि हैं। नायर तो लेखक की एक अद्भुत सृष्टि है। वह जितना भक्त है उतना ही परिश्रमी। वह पान की दूकान खोल कर सोड़ा और पान बेचता रहता है। फिर भी उसकी उदारता अद्वितीय है। ग़रीबों पर उसकी सहानुभूति अपार है। वह सर्वजन-मित्र है। उसका अपना परिवार नहीं है। पर, वह अन्य परिवारों को कई प्रकार से सहायता करता है। वह जब सौ रुपये जमा कर पाता है, तब तीर्थ यात्रा के लिए निकल पड़ता है और वह पैसा खर्च कर लौट आता है। सूक्ष्म रूप से अध्ययन करें, तो इस उपन्यास का अधिक भाग मानव-जीवन के उतार-चढ़ाव, आर्थिक विषमताएँ, ग़रीबों की यातनाएँ, अमीरों के अत्याचार आदि के विवरण से भरा पड़ा है। कभी-कभी ऐसा लगता है कि मानो रचयिता मुख्य रूप से इन्हीं का चित्रण करना चाहता है। फिर भी हिन्दू संस्कृति का विकास-क्रम, मानवों के परस्पर अनुराग, मानव जीवन के प्रति गौरव आदि विषय अन्तर्वाहिनी के रूप में प्रवाहित होते ही रहते हैं। मंदिर साहित्य तथा विभिन्न देशी संस्थाओं द्वारा अभिव्यक्त होने वाले हिन्दू धर्म का तत्त्व ही इस उपन्यास का मूलाधार है।

— 6 —

'वेयिपडगल्' में असहयोग आन्दोलन का विस्तार से वर्णन किया गया है। अंग्रेज़ अफ़सरों के अत्याचारों के शिकार बन, अनेक यातनाओं को भोगने वाले भारतीय युवकों का राघवराव प्रतिनिधि है। केशवराव के राष्ट्रीय महाविद्यालय में होने वाले विविध कार्य, उन दिनों के जागरण के चिह्न हैं। भारतीय नेता सांस्कृतिक तथा सामाजिक पुनरुद्धार के लिए निरन्तर ही जो आंदोलन तथा प्रयत्न कर रहे थे, उनका स्पष्ट तथा विशद अंकन करती है यह राष्ट्रीय संस्था।

वटवृक्ष तथा उसके मित्र मेघ से सम्बद्ध वृत्तान्त अत्यन्त रमणीय रूप से प्रस्तुत प्रतीकात्मक कथा है। यह रूपक मेघों की उत्पत्ति के लिए मुख्य कारण वृक्ष संपत्ति की वृद्धि की आवश्यकता को सूचित करता है। इसके बारे में बहुत कुछ कहा जा सकता है। सन् 1762 में छोटे-छोटे भूमि-भागों

को अपेक्षाकृत अधिक उपजाऊ बनाने के लिए, उनके चारों ओर वृक्षों के रोपने की बात वैज्ञानिकों ने लिखी है। वह खेती के विषय में किया गया एक महान् वैज्ञानिक प्रयोग है। यह कथा उसी को सूचित करने वाला रूपक है। बिजली के उपयोग द्वारा होने वाली कुछ विपत्तियों को सूचित करने मात्र से लेखक को बिजली का विरोधी नहीं माना जा सकता।

— 7 —

यह उपन्यास एक विश्व कोश के समान है। लेखक का मस्तिष्क स्वयं ज्ञान-विज्ञान का महासागर है। अनेक ग्रंथों का अध्ययन कर उनके सार रूपी विषयों का सग्रह किया है। इस उपन्यास में जीवन का ऐसा कोई विषय छूट नहीं गया है, जिसकी चर्चा न की गयी हो। लेखक के विचारों के बारे में पाठकों में मतभेद हो सकता है, किन्तु उनके पांडित्य को कोई इनकार नहीं कर सकता।

संसार की विभिन्न भाषाओं में साहित्यिक विधाओं के अनेक रूप हो सकते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि उन विभिन्न रूपों में समानता भी हो सकती है। श्री विश्वनाथ सत्यनारायण ने उन सभी विधाओं को अपनाकर उन पर अन य सामान्य सफलता प्राप्त की है। इस उपन्यास में उन विविध प्रक्रियाओं की छायाएँ एकत्र पुँजीभूत हो दिखाई पड़ती है। उपन्यास के एक-एक भाग को अलग-अलग कर देखें तो प्रत्येक भाग एक विशिष्ट साहित्यिक-प्रक्रिया के रूप में प्रतिभासित होता है। इस प्रकार इस उपन्यास में कहीं उपाख्यान, कहीं विषाद-गीत, कहीं वर्णनात्मक काव्य, कहीं भाव गीति, कहीं रमणीय रूपक, कहीं साहित्यिक आलोचना, कहीं शास्त्रीय विषय की व्याख्या आदि के समग्र रूप दृष्टिगत होते हैं।

'वेयिपडगलु' में कहीं-कहीं संस्कृत और आंध्र साहित्य के महाकाव्यों के काव्य सौन्दर्य, शैली, रस परिपाक, पात्र चित्रण, छन्दों का औचित्य आदि कई विषयों पर समग्र चर्चा की गयी है। उन भागों को पढ़ते समय लगता है मानो प्रतिभा समन्वित साहित्यिक-आलोचना को पढ़ रहे हैं। वे अंश लेखक को दोनों साहित्यों पर जो समान अधिकार है, उन काव्यों के प्राण-समान विषयों का जो ज्ञान है तथा आलोचना की जो पटुशक्ति है, उसका दिग्दर्शन कराते हैं।

देवदासी (गिरिका) का वृत्तान्त तो एक उदात्त भावगीत ही है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध का विषय ही इसमें रूपान्तर से दुगुनी रमणीयता

के साथ वर्णित है। लेखक को संगीत तथा नृत्य-शास्त्र में जो अपार ज्ञान है, उसका यह सुन्दर उदाहरण है। उस सम्बन्ध में वर्णन जितने प्रामाणिक हैं, उतने ही सुन्दर भी। वह अंश 'नान्यतोदर्शनीय' हो कर उनके पांडित्य तथा प्रतिभा को प्रमाणित करता है।

मंगम्मा की कथा आत्म-परिवर्तन से सम्बद्ध है। उस कथा के मिस सुधारकों, सरकार के विधानों का तथा समाज के कुछ दुराचारों का मज़ाक उड़ाया गया है। वह पुराकृत कर्म के कारण रास्ता भटक कर, भगवान् की कृपा से पुनः सन्मार्ग का अनुसरण करने वाले प्राणी की कथा है। सरकार की विविध शासकीय शाखाओं में किसी एक की अवहेला करते हुए, ऐसी अन्य कई शाखाओं की ओर संकेत करते हुए यह वृत्तान्त शासन-विभाग में सुधार की आवश्यकता को स्पष्ट करता है।

अरुंधती का मरण वृत्तान्त एक विषादगीत के रूप में चित्रित किया गया है। यदि वह छन्दोरूप में निबद्ध होता तो संसार के विषादगीतों का सिरमौर बन जाता। 8-9 दिन तक सम्पन्न भगवान् के विवाह-महोत्सव का वर्णन अपने में स्वयं एक उदात्त काव्य है। उसका सच्चा महत्त्व तो दक्षिण भारत में देखा जा सकता है, जहाँ चोल, चेर, पांड्य, पल्लव भूपतियों ने मंदिरों का, देवता-वैभव के प्रतीक के रूप में, निर्माण किया है।

पसिरिका का वृत्तान्त तो पाठकों को विस्मय में डाल देता है। भू-क्षेत्र दो प्रकार के माने गये हैं, देवमातृकाएँ तथा नदीमातृकाएँ। देवमातृकाएँ मेघों पर आधारित रहती हैं। यहाँ देव शब्द का अर्थ मेघ है। महाकवि भारवि ने अपने काव्य 'किरातार्जुनीय' में वर्णन किया है कि दुर्योधन ने अदेवमातृका-भूमियों की कृषि को प्रोत्साहित किया है। उसका आशय था उन भूमियों द्वारा अधिक उपज को प्राप्त करें। अधिक फल अधिक सम्पत्ति प्रदान करता है। अधिक सम्पत्ति मानव को नास्तिक एवं अनात्मवादी बनाता है। देव-मातृका भूमियों पर आधारित रहने वाले जन प्राय आध्यात्मिक चिन्तन करने वाले होते हैं। पसिरिका देवमातृका-भूमियों का प्रतीक है। सर्वज्ञ शिवजी के आभूषण बने सर्प, हमारे देश में विज्ञान-विवेक के निधान माने जाते हैं। यही नहीं, इस देश में अनन्त (आदिशेष) के अवतार माने जाने वाले महर्षि पतंजलि मतिमत्ता के परम आदर्श माने गये हैं। इस देश में नागपूजा का अर्थ यही है। पार्वती के पुत्र तथा भारत के प्रथम श्रेष्ठ कवि कार्तिकेय भी सर्पाकार के माने जाते हैं। विष्णु को अपना उपास्य देवता मानने वाले

सहस्रफणधर अनन्त की, और शिव को अपना उपास्यदेवता मानने वाले सहस्रशीर्ष सुब्रह्मण्य स्वामी की अमित भक्ति भाव से आराधना करते हैं। विज्ञान के विश्वास के समान ही सर्प खेती बाड़ी का भी प्रतीक है। भूमि का अपने फणों से उद्धार कर वह उसे सारसमन्वित करता है। 'वेयिपडगलु' का पसिरिका इन सभी का प्रतीक है। सर्प और मानव की मिश्रित मूर्ति होने से वह कृषि के दैव-मानव महत्त्व को सूचित करता है। वह जब सर्पकार को छोड़ देता है, तब मृतप्राय हो जाता है। मानव जब तक अपने धर्म का पालन करते रहते हैं, तब तक भगवान अपनी करुणा रूपी मेघ की सृष्टि करता है। मानव धर्मावलम्बी न रहें तो मेघ उत्पन्न नहीं होते। तब अकाल पड़ता है।

'वेयिपडगलु' के पात्र केवल कल्पित नहीं हैं। वे सब सजीव तथा व्यक्तित्व से सुशोभित हैं। धर्माराव के समान ही नायर को भी पाठक भूल नहीं सकते। जब इस उपन्यास को पढ़ते हैं तब पाठकों को ऐसा लगता है, मानो वे असंख्य प्रजा, अनेक आचार-विचारों, विभिन्न भावों, भावों के व्यक्तीकरण के साधनों, व्यक्ति तथा समाज से सम्बद्ध समस्याओं से युक्त किसी विशाल लोक में विहार कर रहे हों। अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, वेदान्त, मरणोत्तर जीवन, कलाएँ, कल्पनाएँ आदि सभी विषय इसमें चर्चित हैं। मानव-जीवन ही इस उपन्यास का ऐक्य-सूत्र है।

'वेयिपडगलु' के वर्णन अद्भुत हैं। उनमें लेखक ने जो प्रतिभा दिखाई है, वह अविस्मरणीय है। घटनाओं, काल तथा ऋतुओं का, प्रकृति-सौन्दर्य तथा चन्द्रिका का मनोहर वर्णन किया गया है। ज्योत्स्ना के वर्णन के विषय में उन्होंने जो वैदग्ध्य प्रदर्शित किया है, वह वर्णनातीत है। ये जिस किसी भी विषय का वर्णन करें अपनी मौलिक प्रतिभा से ही करते हैं। इनके भाव अत्यन्त मौलिक हैं। इनके मौलिक वर्णनों को पढ़ कर आश्चर्य चकित हुए बिना नहीं रहा जा सकता। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, बाण आदि संस्कृत कवि, नन्नय, तिक्कन्न, पेद्दना आदि तेलुगु कवियों के काव्यों को पढ़ कर उनके रचना-विधान को अपनाने पर भी, ये उनके भावों का ग्रहण नहीं करते। यह इनकी प्रतिभा की विशिष्टता है। उदात्त तथा रमणीय वर्णनों से युक्त यह उपन्यास मानो गद्य में रचित महाकाव्य की शोभा देता है।

शैली के विषय में भी 'वेयिपडगलु' एक विशिष्ट रचना है। विभिन्न स्थानों में विविध रस-भावानुकूल विविध शैलियाँ दिखाई पड़ती हैं। कहीं सरल प्रसन्न, कहीं ओजः प्रधान, कहीं ललितमधुर, कहीं दीर्घ समासयुक्त,

कहीं छोटे-छोटे शब्दों के गुंफन से सुन्दर बनी इस उपन्यास की शैली सर्वजन हृदयंगम है। यह कहावतों का सागर है, मुहावरों की जन्म-भूमि है, लोकोक्तियों का आगार है, पदबन्धों की निधि है। तेलुगु भाषा की उक्तियों के सौन्दर्य से प्रत्येक पृष्ठ सुरभित है। एक स्थान पर प्रौढोक्तियों से सुन्दर बन, किसी स्थान पर दीर्घ समासों से युक्त हो कर, कहीं उपमा आदि अलंकारों से सम्पन्न हो कर, कहीं गिरिनिर्झरिणी के समान प्रवाह से युक्त हो इस उपन्यास का रचना विधान प्राचीन महाकवियों के प्रबन्ध काव्यों का स्मरण दिलाता है। लेखक ने जयदेव आदि के काव्यों से गीतों को तथा भरत आदि के शास्त्रों से श्लोकों को आवश्यक स्थानों पर उद्धृत किया है। कूचिपूडि भरतनाट्य से इन्हें अत्यन्त प्रीति है। 'एकवीरा' में इन्होंने पहली बार उसका विवरण दिया है। संस्कृत में कालिदास आदि के समान, आन्ध्र में तिक्कन्ना के समान, अंग्रेज़ी में पोप के समान किस शब्द का किस स्थान पर प्रयोग करना चाहिए, वहीं उसका प्रयोग करते हैं। तेलुगु भाषा की शक्ति तथा सौन्दर्य का इन्हें जितना ज्ञान है, उतना कई कम लोगों को है। कविता और पांडित्य दोनों ने इनका वरण किया है। 'वेयिपडगलु' इनकी सहस्रमुखी प्रतिभा की अक्षर-मूर्ति है। प्रौढता, चमत्कार, सूक्ति वैचित्र्य, रसपरिपाक, चरित्र-चित्रण, कथा-कथन कौशल, शैली की रमणीयता, अलंकार विलास आदि का आकर 'वेयिपडगलु' केवल उपन्यास ही नहीं, महाकाव्य है; केवल महाकाव्य ही नहीं विश्वकोश है।

कुछ प्रमुख उपन्यास–7

असमर्थुनि जीवित यात्रा

श्री दोगिपर्ति रामलिंगम

श्री गोपीचन्द की जीवन्त रचना 'असमर्थुनि जीवित यात्रा' है जो तेलुगु उपन्यास साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। वास्तविक जीवन के उत्थान-पतन से सम्बद्ध कथावस्तु के चित्रण द्वारा इस उपन्यास में यह दरसाया गया है कि जीवन के महासागर में भीरु तथा असमर्थ व्यक्तियों के लिए स्थान नहीं है। सामाजिक जीवन के अच्छे-बुरे को सहृदयता से अपना न सकने वाले व्यक्ति का जीवन दूभर हो जाता है और मृत्यु ही उसका शरण्य है।

जीवन तो किसी भी तरह जीवित रहने के लिए है। उससे पलायन करना असमर्थता का लक्षण है।

तेलुगु के उपन्यास-साहित्य में "असमर्थुनि जीवित यात्रा" (असमर्थ की जीवन यात्रा) का विशिष्ट स्थान है। इस उपन्यास की आलोचना करने से पहले लेखक के रूप में श्री गोपीचन्द के व्यक्तित्व, उनकी विचारधारा के विकास-क्रम तथा उनकी अन्य रचनाओं की विशेषताओं के बारे में जान लेना आवश्यक है।

आंध्र प्रदेश में बीसवीं शती के पूर्वार्ध भाग में श्री गोपीचन्द महान् गद्य लेखक के रूप में लब्ध प्रतिष्ठ हैं। अपने नित्य नूतन भावों को शब्दों का परिधान देते हुए अनवरत लेखन कार्य में निमग्न रह कर, इस पीढ़ी के पाठकों को विचार-सागर में ऊभचूभ करने वाले श्री गोपीचन्द रचयिताओं के रचयिता बने हैं। यह कहने में अत्युक्ति न होगी कि वे भारत देश के लेखकों में अग्रश्रेणी के हैं। डा. बी. गोपालरेड्डी जी के शब्दों में वे 'वेदना जीव' हैं। वे जन्मतः मेधावी हैं। उनकी विरासत भी महत्त्वपूर्ण है। आंध्र प्रदेश के साहित्य-क्षेत्र में हेतुवाद युग के युगपुरुष कविराज रामस्वामी चौधरी के प्रथम पुत्र के रूप में श्री गोपीचन्द ने 8–9–1910 को जन्म लिया था। चौधरी जी विद्वान तथा बैरिस्टर थे। वे 'आंध्र पेरिस' के नाम से प्रसिद्ध तेनाली नगर की म्यूनिसिपैलिटी के चेयरमैन भी थे। वे नास्तिकता-आंदोलन के नेता और हेतुवादी तथा समाज सुधारवादी थे। उनके 'सूत-पुराणमु' ने आंध्र में सामाजिक हलचल उत्पन्न की थी। उनका घर 'सूता-श्रम' साहित्य गोष्ठियों तथा सिद्धान्त चर्चाओं का केन्द्र था। उस वातावरण में पले गोपीचन्द ने हेतुवादी बन ऊँची शिक्षा तथा 'लॉ' की डिग्री प्राप्त की। लेकिन वे कभी अदालत नहीं गये। आधुनिक युग में क़दम रखने वाले श्री गोपीचन्द ने अपने चहुँ ओर के समाज का विश्लेषणात्मक दृष्टि से अनुशीलन किया एवं युगीन सिद्धान्तों का परिशीलन किया। स्वभाव से ही तत्व जिज्ञासु हो कर सत्यान्वेषण के लिए लेखनी ग्रहण कर साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश किया।

जीवन के अनेक क्षेत्रों में तथा अनेक पदों पर काम किया। यथा राडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी की आंध्र शाखा के मंत्री, चित्रपट जगत् में लेखक तथा निर्देशक, आंध्र-सरकार के सूचना विभाग के निदेशक और अन्तिम दिनों में आकाशवाणी में प्रोड्यूसर। उपर्युक्त अनेक पदों पर काम करते रहने पर भी वे प्रधान रूप से लेखक थे और लेखक के ही रूप मे 2-11-1962 को, अचानक हृदय की गति रुक जाने से स्वर्ग सिधारे।

श्री गोपीचन्द सफल कहानीकार, उपन्यासकार और नाटकार हैं। उनके 'तत्त्वमसि', 'अभागिनी', 'माँचाला' आदि नाटक सुप्रसिद्ध हैं। श्री गोपीचन्द उच्चकोटि के निबन्धकार भी हैं। प्रजा को जो कुछ बताना चाहते थे, उन सभी विषयों को उन्होंने सुन्दर लेखों के रूप में प्रकाशित किया है। इन लेखों ने युवा पीढ़ी को अत्यन्त आर्कषित किया था। प्राच्य और पाश्चात्य तत्त्ववेत्ताओं के बारे में श्री गोपीचन्द के लिखे निबन्धों के दो बड़े-बड़े संग्रह प्रकाशित हुए हैं। उन्होंने पत्र-साहित्य की भी सृष्टि की है। नित्य परिवर्तित होने वाले ग्रामीण जीवन के बारे में उन्होंने जो पत्र लिखे हैं, वे आंध्र प्रदेश के सामाजिक इतिहास की आधारभूत सामग्री बन सकते हैं। फिर भी साहित्य-क्षेत्र में वैयक्तिक महत्त्व का मूल्यांकन करते समय यही कहना पड़ेगा कि श्री गोपीचन्द ने आंध्र के साहित्य क्षेत्र में कहानीकार और उपन्यासकार के रूप में चिरस्थायी स्थान प्राप्त कर लिया है।

आंध्र के उपन्यासकारों में श्री गोपीचन्द अग्रगण्य हैं। साहित्य की इस प्रक्रिया के उचित प्रयोजन से वे परिचित थे। पश्चिमी देशों में प्रारम्भ से ले कर उपन्यास साहित्य ने हेनरी फीलिंडग, स्काट, एच. जी. वेल्स, थामस हार्डी, लारेन्स, डिकेन्स, विक्टर ह्यूगो, बाल्जाक, फ्लोबे, मपासा, टालस्टाय, तुर्गनेव, सार्त्रे, पर्लबक आदि उच्च श्रेणी के लेखकों के हाथों जिन-जिन विशिष्टताओं को प्राप्त किया है, उन्हें श्री गोपीचन्द ने अच्छी तरह हृदयंगम कर लिया था। भारत देश में प्रेमचन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, शरत्बाबू आदि किस कोटि के उपन्यासकार हैं, इसे वे खूब जानते थे। श्री गोपीचन्द के कथनानुसार आंध्र साहित्य में श्री उन्नव लक्ष्मीनारायण का 'मालपल्लि' नामक उपन्यास उत्तम श्रेणी की रचना है। साहित्य की यह विधा—उपन्यास रचना-श्री गोपीचन्द के हाथों, उनके जीवन की अन्तिम दशा में निरन्तर परिश्रम के रूप में परिणत हुई। श्री गोपीचन्द ने मात्र सामाजिक उपन्यास लिखे हैं। उनका पहला उपन्यास 'परिवर्तनम्' था। आधुनिक तेलुगु साहित्य में 'काल्प-

निक (रोमांटिक) आन्दोलन' का विशिष्ट महत्त्व है। श्री गोपीचन्द के मतानुसार इस आंदोलन से सम्बद्ध भाव कवियों ने, छायावादी कवियों के समान, प्रधानतया विरह का प्रचार किया है। इस कथन में सत्य भी है। प्रेमी के न मिलने पर विरह-व्यथित हो, कृशीभूत होना जीवन को निरर्थक करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। फिर ऐसी दशा में करें क्या? इस प्रश्न के समाधान के रूप में श्री गोपीचन्द ने 'परिवर्तनम्' की रचना की है। इस उपन्यास का नायक राजाराव अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद उसके वियोग में व्याकुल रहता है। सभी लोग उसके जीवन से निराश हो जाते हैं। लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि यह तो जीवन से पलायन करने की वृत्ति ही है। अन्त में राजाराव के मन में परिवर्तन आ कर, उसके दूसरी शादी के लिए और दैनिक जीवन में भाग लेने के लिए राज़ी होने पर उपन्यास समाप्त हो जाता है। वास्तविक संसार में कल्पना की उड़ानों द्वारा उत्पन्न मानसिक दुर्बलता को इस उपन्यास में हृदयंगम रूप से चित्रित किया गया है। श्री गोपीचन्द का दूसरा उपन्यास 'असमर्थ की जीवन यात्रा' है। इसके बारे में आगे चल कर विस्तृत विवेचन होगा। समाज की ईकाई के रूप में मानव का और उसके जीवन के परमार्थ का अन्वेषण करने वाले श्री गोपीचन्द ने स्त्री के मनस्तत्व को समझने का भी प्रयत्न किया है। लेखक गोपीचन्द स्त्री के जीवन के सतरंगियों को देख कर आश्चर्यचकित रह गया। एक स्थान पर उन्होंने स्वयं लिखा है कि "स्त्री का मन कितना मनोहर है। ढूँढ़ने पर स्त्री के हृदय की गहराइयाँ नज़र आती ही रहती हैं।" आधुनिक आंध्र साहित्य में वेंकटचलम् ने काम-वासना की तृप्ति के लिए स्त्री-पुरुषों के घर-बार छोड़ने की प्रवृत्ति को इतिवृत्त के रूप में ग्रहण कर और केवल सेक्स को ही सब कुछ मान कर असंख्य रचनाएँ की थीं। श्री गोपीचन्द का विचार है कि इन उपन्यासों के द्वारा पारिवारिक जीवन संकट में पड़ गया है। चलम् की प्रवृत्ति की अवहेलना करते हुए अपनी एक कहानी में वे वेंकटचलम् नामक पात्र की सृष्टि करते हैं और उससे कहलाते हैं कि "उनके सभी पात्र एक समान हैं। वही कोमलता . वही बाँकापन। कभी पैसों के बारे में सोचते नहीं। कभी यह नहीं सोचते कि बुढ़ापा आएगा, कुरूपता भी आएगी। अरे, इन विचारों के लिए फ़ुरसत कहाँ? उस चाँदनी में, उस खुले मैदान में, उन गुलाब की फुलवाड़ियों में...आदि।" श्री गोपीचन्द कहते हैं कि शायद चलम् का विश्वास हो कि उन पात्रों को कभी भूख लगती ही नहीं। श्री गोपीचन्द का प्रगाढ़ विश्वास है कि पारिवारिक जीवन के बिना मनुष्य सुखी नहीं रह सकता परिवार की

आधारभूता स्त्री ही है। स्त्री के व्यक्तित्व के सूक्ष्म-अंशों का विश्लेषण करने के लिए ही आपने 'मेरुपुल मरकलु', (बिजलियों के धब्बे) 'गडिय पडनि तलुपुलु' (अर्गलाहीन कपाट) 'पिल्लतेम्मेर' (मन्दपवन) नामक उपन्यासों की रचना की है। पहले उपन्यास की उषा रानी, दूसरे उपन्यास की कोटेश्वरी, तीसरे उपन्यास की शमन्तक मणि, मानो स्त्री के व्यक्तित्व के तीन प्रति-बिम्ब है। श्री गोपीचन्द का विचार है कि ये जीवन की गति से भटके हुए जाव है। वे यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि चलम् ने सामाजिक जीवन के केवल एक ही पहलू का चित्रण बार-बार किया है। पारिवारिक जीवन में बुराई के साथ अच्छाई भी है और उस अच्छाई की ओर चलम् ने आँख उठा कर देखा तक नही। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि श्री गोपीचन्द ने सेक्स के महत्त्व को पहचाना नहीं। "काम-वासना मानवों में होती ही है। किन्तु उसको हद से बढ़ कर 'पब्लिक न्यूसेन्स' नहीं बनना चाहिए। उस प्रकार का व्यवहार करने वाले दूषित कामवासना से युक्त मनुष्य हैं। उनकी करतूतों की निन्दा करनी ही चाहिए।" उनका कहना है कि समाज में अनीति को फ़ैशन बनाना नहीं चाहिए। "जो भी करना चाहते हैं, खुले आम कीजिए। यदि पुरानी व्यवस्थाएँ बाधाजनक हों, तो नयी व्यवस्थाओं को अपनाइए।" विवाह की व्यवस्था का भी उन्होंने खूब परिशीलन किया है। वैवाहिक बंधन के टूट जाने का एक मात्र कारण सेक्स की विकृत प्रवृत्ति ही नहीं, वरन् पति-पत्नी के व्यक्तित्व के बीच स्वाभाविक सबंध का न होना भी है। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने 'शिथिलालय' (खँडहर बना मंदिर) की रचना की है।

श्री गोपीचन्द प्रारम्भ में निरे हेतुवादी एवं नास्तिक थे। क्रमशः अरविन्द ने उनकी ज्ञान वीथि में प्रवेश किया। इस प्रभाव से श्री गोपीचन्द ने समझ लिया कि आज तक जिस पर मेरा विश्वास था, जिसका मैंने प्रचार किया था, वह सम्पूर्ण सत्य नहीं है। अरविन्द ने कहा था कि जड़ बने हुए इस संसार को, मन से भी परे चैतन्य के सहयोग से सुधारा जा सकता है, पदार्थ को भी दिव्य बनाया जा सकता है। उन्होंने मन से अतीत रहने वाले चैतन्य को सिद्ध करने का मार्ग भी बताया था। अरविन्द के उपदेशों के साथ अपने मान्य नव्य मानवतावाद को जोड़ कर, भौतिक तथा अध्यात्मवाद का समन्वय कर अपने निर्णयों का उदाहरण सहित विवरण देते हुए उन्होंने सन् 1949 में 'पोस्टु चेयनि उत्तराल्' (पत्र जो पोस्ट नहीं किये गये) के

शीर्षक से कुछ पत्र लिख कर प्रकाशित करवाये। सच पूछा जाए तो ये पत्र नहीं, गम्भीर तात्विक निबन्ध हैं। उनके विचारों का गम्भीरता से अध्ययन करने वालों को इन पत्रों ने चकित कर दिया। उन्हें लगा कि गोपीचन्द अब बदल गये हैं। उन्होंने कहा कि वे भौतिकवादी नहीं रहे, अध्यात्मवादी बन गये हैं। इस आलोचना का गोपीचन्द ने अपनी रचनाओं तथा भाषणों द्वारा जवाब दिया। इन पत्रों का साहित्यिक रूप ही 'पं. परमेश्वर शास्त्री वीलुनामा' (पं. परमेश्वर शास्त्री का वसीयतनामा) नामक उपन्यास है। अरविन्द के बताये 'अति मानस चैतन्य' नामक दशा को प्राप्त करने के लिए लेखक के समान ही किसी व्यक्ति के द्वारा किया गया प्रयत्न ही इस उपन्यास का प्रधान इतिवृत्त है। अन्त में वह व्यक्ति जीवन में कृतार्थ होता है। इस उपन्यास को केन्द्रीय साहित्य अकादमी का पुरस्कार प्राप्त हुआ है।

आधुनिक युग के संश्लिष्ट जीवन में सामान्य मानव की दुर्दशा का दिग्दर्शन कराने वाला उपन्यास है 'यमपाशमु'। आज परम्परा बद्ध जीवन-विधान शिथिल पड़ गया है। नैतिक मूल्य मिटते जा रहे है। सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन आ रहा है। आशा-आकांक्षाओं के फलीभूत होने से पहले ही बुढ़ापा आ धमक रहा है। मानो जीवन अपने यमपाशों मे मानव को कस रहा है और वह हर घड़ी मृत्यु के स्पर्श का अनुभव कर रहा है। इस दशा से विमुक्ति कैसे हो? इस प्रश्न का श्री गोपीचन्द इस प्रकार जवाब देते हैं—"निषेध बुद्धि से जीवन को देखने वाले किसी भी व्यक्ति का विकास सम्भव नहीं है। जीवन का बहु-भाँति उपभोग करने वाला व्यक्ति ही सम्पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। जीवन से विमुख रहने वालों की अपेक्षा, सब प्रकार से जीवन का भोग करने वाले ही मुझे अच्छे लगते हैं। अच्छा लगना क्या, उन्हीं पर मेरा विश्वास भी है।"

श्री गोपीचन्द ने अपने ही जीवन के चित्रण मे आंध्र प्रदेश के राजनीतिक तथा सामाजिक इतिहास को समन्वित करते हुए 'चीकट गदुलु' (अँधेर कमरे) नामक बृहद उपन्यास की रचना का प्रारम्भ किया था। किन्तु दुर्भाग्य से यह असमाप्त ही रह गया। कुछ आलोचकों ने इस उपन्यास के बारे में लिखा है कि अपने मन को हल्का करने के लिए तथा अपने मन के अँधेर कमरों में कान्ति की किरणें प्रविष्ट करने के लिए की गयी श्री गोपीचन्द की साधना ही इस उपन्यास में मूर्तिमान हुई है। वास्तव में देखा जाए तो श्री गोपीचन्द ने कोई भी रचना व्यर्थ प्रलाप अथवा मात्र कल्पना

चातुर्य दिखाने के लिए नहीं की है। उनके उपन्यास जीवन में अपने अनुभवों को कल्पना द्वारा साहित्यिक रूप दे कर, अपने विचारों को दूसरों के साथ बाँटने के लिए किये गये प्रयत्न ही हैं। उन्होंने स्वयं एक स्थान पर कहा है कि 'मेरी रचनाएँ मेरे जीवन के विचार स्रोत से उत्पन्न बौछार' मात्र है[1]। जो भी हो, समकालीन आंध्र प्रदेश की परिस्थितियों के विशाल पट पर, अपने समन्वयात्मक दृष्टिकोण से आकलन कर चित्रित करने का प्रयत्न ही 'चीकटि गदुलु' नामक उपन्यास में उभर आया है।

श्री गोपीचन्द की अन्य सभी रचनाओं की अपेक्षा 'असमर्थ की जीवन यात्रा' का विशेष महत्त्व है। तेलुगु के उपन्यास साहित्य में यह एक विशिष्ट रचना 2 है। सन् 1947 में पहली बार प्रकाशित इस उपन्यास के सन् 1963 तक पाँच संस्करण निकल चुके हैं। कुछ आलोचकों का मत है कि यह उपन्यास ही नहीं है। कारण इस उपन्यास के अध्याय ही ऐसे हैं। उनके शीर्षक ही इस बात के साक्षी है। कथा में एकरूपता नहीं, गति नहीं और प्रवाह नहीं। हमेशा एक ही पात्र प्रधान रहता है, दूसरे पात्र उस एक पात्र के अस्तित्व के लिए मात्र आधार हैं, आदि। लेकिन उन्हीं आलोचकों ने इसे उत्तम रचना मान भी लिया है। अस्तु। तेलुगु साहित्य में उल्लेखनीय उपन्यासों में इस उपन्यास का विशिष्ट स्थान है। इस विशिष्टता के कुछ कारण है। पहला कारण यह है कि इस उपन्यास में वास्तविक जीवन के एक पात्र के उत्थान-पतन से सम्बन्धित कथा है। दूसरा उस पात्र के काश्तकारों के मध्य उद्भूत तथा सुशिक्षित होने के कारण, उसके जीवन के अनेक पहलुओं तथा उससे संबंधित अनेक पात्रों पर, वस्तु विन्यास के सन्दर्भ में प्रकाश डालने का अवसर लेखक को प्राप्त हुआ है। तीसरा उस प्रधान पात्र की कमज़ोरियाँ हममें भी हैं, ऐसा प्रत्येक पाठक को प्रतिभासित होता है और वह बगलें झाँकने लगता है। इस प्रकार यह एक जीवन्त रचना है। चौथा, जीवन-तत्व की इसमें विस्तार से चर्चा की गयी है। इसीलिए इस उपन्यास को शाश्वत महत्त्व प्राप्त हुआ है। उपन्यास का प्रारम्भ ही इन शब्दों में होता है—"सीताराम राव का जीवन विलक्षण है। वह उन्नत शिखर के अग्रभाग से, स्वच्छ जल से युक्त हो ज़मीन पर गिर, मलिनता को अपनाकर, गन्दे कूप में प्रवेश करने वाले झरने का स्मरण दिलाता है। पता नही, अपने में आए हुए इस परिवर्तन से वह झरना परिचित है या नहीं।"

1. Showers of shake off. 2. Mile stone.

इस उपन्यास का नायक सीतारामराव प्रतिष्ठित परिवार का है। उस गाँव में उसका परिवार मुखियों का है। वहाँ के तालाब, धर्मशालाएँ, मंदिर आदि उसके पूर्वजों के बनाए हुए हैं। उसके पिता अन्तिम क्षणों में यह कह गये कि किसी भी दशा में वंश-गौरव को बनाये रखो। सीताराम राव बुद्धिमान है। खूब पढ़ा-लिखा है और हेतुवादी है किन्तु अपने वंश और उसके गौरव के मिथ्या अहंकार का दास है। वह एक विचित्र मनस्तत्त्व का गुलाम बना हुआ है। जब दूसरे सब लोग नित्य-जीवन के छोटे-मोटे विषयों में ऊभ-चूभ होते रहते हैं, तब वह उन सबसे परे रहते हुए, सदा कुछ न कुछ सोचता रहता है। हमेशा उसके सामने प्रश्न तथा समस्याएँ उपस्थित रहती है। शादी कर लेना, बच्चों को जन्म देना, उनके लिए नीचातिनीच रूप से तड़पते रहना (जंजाल में फँसा रहना), इन सबसे उसे घिन है। किन्तु उसे भी शादी करनी पड़ी। वह भी प्रेम करके विवाह करता है। बच्चे पैदा होते हैं। जायदाद फूँकी जाती है। परिस्थितियाँ बदल जाती है। गुमाश्ते की नौकरी करनी ही पड़ती है। वह उस नौकरी को निभा नहीं सकता। बदलती हुई परिस्थितियों से किस प्रकार मेल करे, इसके बारे में वह एक सुस्थिर निर्णय नहीं कर पाता। अपनी पत्नी तथा बच्चों के जीवन को भी वह दुःखमय बना देता है। वह सारे संसार से ही घृणा करने लगता है। मानसिक रूप से वह एकाकी हो जाता है। पराजय-प्रवृत्ति का अभ्यस्त हो जाता है। "कितना भी करो, सदा कोई न कोई समस्या सिर पर सवार रहती है। ऐसी दशा में कोई करे क्या ? करना ही क्यों चाहिए ?" ऐसा सोच वह विरक्त हो जाता है। मामा के स्पष्ट रूप से कह देने पर कि मैं तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता, मानव के प्रति उसका विश्वास ही उठ जाता है। अन्त में सौन्दर्य के प्रति भी घृणा हो जाती है। दुखवाद का दौर आ जाता है। समाज और व्यक्ति के प्रति विद्वेष उत्पन्न हो जाता है। निर्णय कर लेता है कि अज्ञानी कुछ सोचता नहीं, इसलिए वह सुखी है। अपने पर तरस खाता है कि मैं ज्ञानी हूँ, इसलिए मेरे लिए सभी कष्ट हैं। अन्त में वह निश्चय कर लेता है कि सोचना ही ग़लत है, दोष है। कभी किसी विचार को उचित मानता है, तो दूसरे ही क्षण उसके विपरीत विचार को समुचित मानता है। इस प्रकार उसका जीवन ही एक बखेड़ा बन जाता है। दिमाग़ में तरह-तरह के विचारों का बवंडर-सा उठता है। एक क्षण में एक चीज़ अच्छी लगती है तो दूसरे ही क्षण में दूसरी चीज़ अच्छी लगती है। अन्त में ऐसी दशा पर पहुँच जाता है कि स्वयं उसी की समझ में नहीं आता कि सोच क्या रहा है और कर क्या रहा है। प्रत्येक

दशा में आवेश के वशीभूत होता है। उसे लगता है कि मेरा नरम दिल ही इसका कारण है। इस प्रकार मन पर अत्याचार के कारण वह मानसिक रूप से अत्यन्त दुःखी होता है। इस मानसिक परिणाम को अनेक घटनाओं तथा सम्वादों द्वारा क्रमशः चरमदशा को ले जाने का विधान लेखक की प्रतिभा का प्रबल प्रमाण है। दादा रामय्या के यह कहने पर भी कि जब तक जीवित रहे तब तक जीवन केलि में किसी भी रूप में भाग लेना चाहिए, सीताराम राव जीवन से सुलह नहीं कर पाता। स्वयं अपना सुधार करने का प्रयत्न तक नहीं करता। तिस पर अपनी कमजोरियों का समर्थन करने के लिए कारणों की खोज करता है। ग़लत-सलत प्रश्न और उनके जवाबों का वह मन ही मन मनन करता रहता है।

"मेरे मन में इतने विचार ही क्यों आने चाहिए ?"
"बेकार बैठे रहने से।"
"फिर मुझे काम करने का जी क्यों नहीं होता ?"
"परिस्थिति वश।"
"फिर मेरी ज़िम्मेदारी क्या है ?"
"परिस्थितियों को बदल लो।"
"कैसे ?"

यह उसके विचारों क क्रम है। अपनी पतिव्रता पत्नी को पीट कर, स्वयं अपने से प्रश्न करता है कि "अरे, क्या किया तुमने ?" और घर छोड़ सड़क पर निकल पड़ता है। अन्त में पागल बन जाता है। कुछ आलोचकों ने कहा है कि यह पागलपन शेक्सपियर के हैम्लेट तथा लियर के पागलपन की श्रेणी का है। अर्थात् उन व्यक्तियों के मर जाने पर भी आत्मज्ञान और जीवन के प्रति जो उनका विश्वास है वह अभिव्यक्त हुआ है। उसी पागलपन में सीतारामराव एक तथ्य को बताता है। "अरे, अन्त में कहीं भी इस 'क्यों' का जवाब नहीं मिला है। कहीं न कहीं प्रश्नो की इस परम्परा को रुक जाना चाहिए।" अन्त में सीतारामराव उसी पागलपन की दशा में श्मशान की ओर चला जाता है और आत्मविमर्श कर, अपने को उस प्रकार नष्ट करने वाले अपने भीतर के 'असमर्थ व्यक्ति' से प्रश्न करता है और उससे संघर्ष कर, स्वयं अपनी हत्या कर लेता है।

इस उपन्यास को श्री गोपीचन्द ने अपने पिता जी को समर्पित किया है। समर्पण में यह वाक्य लिखा है—"पिता को, इसलिए कि उन्होंने 'क्यों'

का प्रश्न सिखाया था।" इसीलिए इस पात्र की सृष्टि स्वयं अपने आपको देखने के लिए किया गया प्रयत्न है। रचयिता ने हेतुवाद रूपी विचार-भार को इस रचना के द्वारा अभिव्यक्ति प्रदान की है। श्री गोपीचन्द का कथन है कि 'क्यों' का प्रश्न मनुष्य के द्वारा अच्छे काम कराने के लिये सहायक रूप में पैदा हुआ है। जब अच्छे काम करना ही मनुष्य का स्वभाव हो जाता है, तब इस प्रश्न की आवश्यकता कम हो जाती है या आवश्यकता ही नहीं रह जाती है।" इस उपन्यास का सारांश यह है कि जब हेतुवाद मनुष्य के जीवन मे प्रवेश कर, उसके सिर पर सवार हो जाता है, तो वह सिद्धान्त बन कर, मानव की प्रगति तथा विकास में बाधक बन जाता है। इस उपन्यास ने एक और शिक्षा दी है। "जीवन प्रचण्ड वेग से प्रवाहित होता रहता है। उसमें सभी लोग अपने-अपने संस्कार के अनुसार लड़ते-झगड़ते रहते हैं। यह एक महासमर है। इसमें भीरु तथा असमर्थ व्यक्तियों के लिए स्थान नहीं है।" व्यक्तिगत संकुचित दृष्टि के कारण नाश के सिवा और कुछ नहीं मिलता। सामाजिक दृष्टि को अपनाकर आगे की ओर देखो। समाज को टुकड़ों में मत देखो। समग्र रूप में देखना सीख लो।"

इस उपन्यास को लिख कर श्री गोपीचन्द ने जीवन का विश्लेषण कर जीवन पर विश्वास की वृद्धि कर ली है। जीवन को विनम्रता से स्वीकार कर लिया है। "जीवन क्यों ?" इस प्रश्न का जवाब इस प्रकार दिया कि जीवन किसी न किसी प्रकार से जीवित रहने के लिए है। इतिवृत्त, चरित्रचित्रण की विलक्षणता, रचना-शिल्प और उपदिष्ट तत्व की दृष्टि से 'असमर्थ की जीवन यात्रा' श्री गोपीचन्द की एक महान् सृष्टि है।

कुछ प्रमुख उपन्यास–8

रुद्रमदेवी

डा. पाटिबंडा माधवशर्मा

अपने राष्ट्र के अतीत वैभव के चित्रण द्वारा वर्तमान पीढ़ी को कर्तव्य का बोध कराने की इच्छा से श्री नरसिंह शास्त्री ने उपन्यासों की रचना की है। उन उपन्यासों में 'रुद्रमदेवी' की कथावस्तु आन्ध्र के इतिहास के महोज्ज्वल अध्याय काकतीय युग की एक गरिमामय घटना से सम्बद्ध है। कर्म, ज्ञान तथा भक्ति के समन्वय रूपी चरित्र से युक्त महानुभावों ने अपनी कर्तव्यनिष्ठा से आन्ध्र साम्राज्य को सुस्थिर बनाया था।

इस उपन्यास में रानी और पत्नी के रूप में रुद्रमा के हृदय में कर्तव्यों के संघर्ष की कल्पना कर, उस अन्तर्द्वन्द्व में उसके स्त्री सुलभ हृदय की वेदना तथा राजधर्म निष्ठ उसकी आत्मशक्ति की कर्तव्यपरायणता का अतीव सुन्दर चित्रण किया गया है।

बीसवीं शताब्दी का प्रथम चरण आन्ध्र जाति के लिए पर्व का समय था। वह सर्वतोमुखी जागरण का समय था। चिरनिद्रा मग्न जाति नव चैतन्य से परिप्लावित हो उठी। सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों में नवीन प्रेरणादायी उत्साह की लहर दौड़ गयी। इस नूतन चैतन्य की स्रवन्ती में स्नात हो, पुनीत बन जिन युव कवियों ने मुक्तकण्ठ से कविता गान किया था, उनमें श्री नोरि नरसिंह शास्त्री प्रमुख हैं। साहित्य-रसाल रूपी 'साहिती समिति' उस युग के कवि कोकिलों के कलकूजन का निलय थी। उस रसाल तरु शाखा पर स्थित हो, इस बालकवि ने अव्यक्त मधुर गान किया था। 19वें वर्ष में ही बी. ए. की उपाधि प्राप्त कर, शास्त्री जी ने 'गीत मालिका' नामक काव्य संग्रह प्रकाशित कर, नव्य काव्य के क्षेत्र में अपना स्थान बना लिया था।

श्री नरसिंह शास्त्री जी का जन्म सन् 1900 में धर्मनिष्ठ ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वैदिक धर्म के प्रति शास्त्री जी की अभिरुचि एवं निष्ठा जन्म सिद्ध ही हैं। सन् 1925 में बी. एल. की उपाधि प्राप्त कर इन्होंने 'न्यायवाद वृत्ति' (वकालत) शुरू की किन्तु ये स्वभाव से 'वेदवादी' ही हैं। वैदिक धर्म के प्रति इनकी निष्ठा अचंचल है।

किसी भी विषय में 'नव्यता' (आधुनिकता) काल गति से सम्प्राप्त तथा बाह्य आकृति से सम्बद्ध गुण है। अन्तर में स्पन्दित होने वाला चैतन्य तो सनातन ही है। वह तो अपरिवर्तनशील है। आन्तरिक सनातनता तो नित्यनूतन है। श्री नरसिंह शास्त्री का नव्यता-प्रेम भी इसी प्रकार का है। इनकी रचनाओं की आधुनिकता केवल आकृति तक सीमित है। शास्त्री जी के अन्तराल में स्पन्दित होने वाला जीव लक्षण तो सनातन ही है। इनकी दूसरी रचना 'सोमनाथ विजयमु' नामक एकांकी है। तीसरी रचना 'भागवतावतरणमु' नामक गीत-नाटिका है। यह स्पष्ट है कि ये सब रचनाएँ आकृति में नूतन होते हुए भी वस्तु तथा तत्व में सनातन ही है।

शास्त्री जी की आर्षदृष्टि अति उदार है। वह वैदिक तथा लौकिक क्षेत्रों को अपने में समाए हुए है। राजनीतिक विषयों में, सामाजिक व्यवहारों में तथा साहित्य के क्षेत्र में ये नूतनता को चाहते हैं। किन्तु उस नूतनता का उसी सनातन धर्म का अधुनातन स्वरूप होना चाहिए। शास्त्री जी तीव्र राष्ट्रवादी हैं। वह राष्ट्रीयता हो अथवा आन्ध्रता, इनके हृदयनिष्ठ वैदिक-निष्ठा का रूपान्तर ही है। ये प्रत्येक प्रकार की नव्यता को निमन्त्रित करते है, स्वीकारते हैं और अनुसरण करते है किन्तु उससे इनके व्यक्तित्व में कोई अन्तर नहीं आता। नव्यता के वे सभी गुण इनके व्यक्तित्व में विलीन हो जाते हैं, किन्तु ये उनमें लिप्त नहीं रहते। इनकी अचंचल वैदिक निष्ठा की अभिरुचि के विस्तार का प्रथमरूप 'नारायण भट्टु' है। सन् 1949 में प्रकाशित इस उपन्यास ने 'तेलुगु भाषा समिति' के पुरस्कार को प्राप्त किया है।

सन् 1950 में शास्त्री जी ने 'देवी भागवतम्' के प्रथम तीन स्कन्धों का तेलुगु पद्यानुवाद किया है। इनका विश्वास है कि यदि हमारी जाति को शक्ति सम्पन्न बन कर, प्राचीन वैभव की गरिमा को प्राप्त करना हो तो जिस अध्यात्म शक्ति की आवश्यकता है, वह 'देवी भागवतम्' में निहित है। इस रचना के कारण जगद्गुरु ने इन्हें 'कवि सम्राट्' की उपाधि से विभूषित किया है।

आन्ध्र के अतीत-वैभव को दृष्टि मे रख कर शास्त्री जी ने उपन्यास रचना करने का निश्चय कर, क्रमशः 'उपन्यासों की रचना की है।[1] तेलुगु भाषा समिति के पुरस्कार ने इन्हें उपन्यास-रचना के लिए आत्मविश्वास प्रदान किया था। इनके प्रायः सभी उपन्यास ऐतिहासिक हैं और आन्ध्र के इतिहास से ही सम्बद्ध हैं।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद अखंड भारत देश तथा अखंड भरतजाति का दृश्य शास्त्री जी की आँखों के सामने आया। इनका हृदय पवित्र भारतीयता से समाविष्ट हो गया। उस भारतीयता में अपनी आन्ध्रता भी उमड़ पड़ी। कौन हैं ये आन्ध्र ? भारत की राष्ट्रीयता को सुस्थापित करने में आन्ध्रों का क्या स्थान है ? उनके उद्यम का क्या महत्त्व है ? उसका परिणाम क्या है ? भारत के समग्र इतिहास में आंध्रों का इतिहास मानों एक जाज्ज्वल्यमान

1. 1. नारायण भट्टु 2. रुद्रमदेवी 3. वाविरा 4. मल्लारेड्डी 5. कवि सार्वभौमुडु और 6. धूर्जटि

अध्याय है। इन विषयों के दृष्टि पथ में आते ही आंध्र के हज़ार वर्षों का महिमामयी इतिहास आँखों के सामने घूम जाता है। उस इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटनाओं से इनकी आँखें चौंधिया गयीं। वे घटनाएँ तथा प्रसंग भिन्न-भिन्न है किन्तु उन सबमें समुज्ज्वलता एक समान है। वह है सनातन धर्मनिष्ठा की समुज्ज्वलता।

"नित्यनूतन एवं अविचल भारत धर्म ने अब हमें फिर से आविष्ट किया है। मेरा विश्वास है कि उसी के परिणामस्वरूप हैं मेरे ये रचना प्रयत्न।" तथा "जिन युगों में भारतधर्म जिन-जिन रूपों में विजृंभित हुआ है, उनका वर्णन करने के उद्देश्य से ही मैं इन उपन्यासो की रचना की ओर आकृष्ट हुआ हूँ।" इस दृष्टिकोण से लिखे गये उपन्यासों में 'रुद्रमदेवी' दूसरा है। 'नारायण भट्टु' आंध्र के रसिक विद्वज्जनों की प्रशसा का पात्र बना है। 'रुद्रमदेवी' ने अपेक्षाकृत अधिक प्रशंसाएँ प्राप्त की हैं।[1] शास्त्री जी के मतानुसार 'उपन्यास का अर्थ बड़ी कथा' है। इस विचार को मन में रख कर शास्त्री जी ने आंध्र के इतिहास के महोज्ज्वल अध्याय काकतीय युग की एक गरिमा-मय घटना को इस उपन्यास की कथावस्तु के रूप में ग्रहण किया है। वह घटना छः वर्ष की अवधि में घटित है। इतिवृत्त में सान्द्रता और कथागति में तीव्रता को सम्पादित करने के उद्देश्य से शास्त्री जी ने उसे छः मास की अवधि में ग्रहण किया है। स्वीकृत विषय रुद्रमदेवी के सिंहासनारूढ़ हो कर विच्छिन्न होने वाले आंध्र साम्राज्य को सुस्थिर तथा सुगठित करने के प्रयत्न से सम्बद्ध है। इस घटना को स्वीकार करने में शास्त्री जी के मन में एक विशेष तात्पर्य है। आंध्र भाषा में महाभारत की रचना तीन स्तरों में सम्पूर्ण हुई है। चालुक्य युग में राजराजु के शासनकाल में आंध्रजन बौद्धधर्म के प्रभाव से मुक्त हो कर कर्म प्रधान वैदिक धर्म का अनुसरण कर रहे थे। नन्नय ने साहित्य के माध्यम से उसका प्रचार किया था। यही इतिवृत्त 'नारायण भट्टु' नामक उपन्यास का मूलाधार है। राजराजु तथा नन्नय के स्वर्गस्थ होने पर महाभारत के कार्य में विघ्न पड़ा था। लगभग तीन पर्वों तक सम्पन्न महाभारत के अनुवाद कार्य को सम्पन्न कर सकने वाले कवि के जन्म लेने में दो सौ वर्ष लगे। वह काकतीय साम्राज्य के चरम विकास का युग था। काकतीय वंश के आदि नरेश जैन धर्म के अनुयायी थे। चक्रवर्ती

1. केन्द्रीय साहित्य अकादमी ने निश्चय किया कि इस उपन्यास का सभी भारतीय भाषाओं में अनुवाद हो।

गणपति देव से सौ वर्ष पूर्व ही काकतीय राजा जैनधर्म को तज शैवधर्म के अनुयायी बनने लगे। फिर भी जैन धर्म को प्रजा का आदर प्राप्त था। राजवंश का आदर भी पूर्णरूप से नष्ट नहीं हुआ था। कर्म प्रधान वैदिक धर्म क्रमशः भक्ति प्रधान बना। जैन धर्म तो निरीश्वरवादी है अतः उसमें भक्ति के लिए स्थान नहीं है। आस्तिक विचार तथा भक्ति भाव की तन्मयता सामान्य जनता को आकर्षित करने लगी। जैनधर्म तो राजधर्म नहीं रहा था। 'यथा राजा तथा प्रजा' की लोकोक्ति के अनुसार प्रजा का आदरभाव सेश्वर तथा भक्ति प्रधान शैव और वैष्णव सम्प्रदाय के प्रति बढ़ने लगा। कई जैनी वैदिक धर्म के अनुयायी बन रहे थे। उस युग में सामान्य जनता में प्रचलित शैव सम्प्रदाय वीरता के गुणों से युक्त था। उसका प्रतिस्पर्धी वैष्णव सम्प्रदाय भी उन्हीं गुणों से युक्त था। उन दोनों सम्प्रदायों के अनुयायियों का आपस में लड़ना-झगड़ना तथा जैनियों से लड़ना-झगड़ना सामान्य विषय बन गया था।

उस समय ज्ञान प्रधान, समन्वयात्मक तथा वेद सम्मत धर्म की आवश्यकता थी। उस समय पर कविब्रह्मा तिक्कन्ना का जन्म हुआ था, जिन्होंने हरिहरतत्त्व का प्रचार किया था। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए महाभारत के आन्ध्रीकरण के कार्य को समाप्त करने का निश्चय किया। वे मनुमसिद्धि (नेल्लूर के राजा) के पास महामन्त्री के पद पर रह कर शासकीय विषयों में पर्याप्त प्रसिद्ध हुए थे। कर्म, ज्ञान तथा भक्ति के समन्वय का मानो उनका जीवन आदर्श था।

'रुद्रमदेवी' का इतिवृत्त उपरोक्त वातावरण से संभरित युग से सम्बद्ध है। चक्रवर्ती गणपतिदेव वृद्ध हो चले थे। उनका स्वास्थ्य भी दिनोंदिन क्षीण होता जा रहा था। उनके पुत्र नहीं थे, दोनों ही पुत्रियाँ थीं। उनके नाम गणपाम्बा और रुद्राम्बा थे। सन्तान होने से पहले ही गणपाम्बा के पति का देहान्त हो गया था। रुद्राम्बा का विवाह चालुक्य वीरभद्रेश्वर के साथ हुआ किन्तु उसके भी पुत्र नहीं हुए। एक पुत्री हुई जिसका नाम मुम्मडम्मा था। मुम्मडम्मा का विवाह महादेवराज के साथ हुआ रुद्रम्मा के पति वीरभद्रेश्वर को दूसरी पत्नी द्वारा हरिहरदेव तथा मुरारीदेव के नाम से दो पुत्र हुए। ये सब गणपतिदेव की सभा में उच्च पदों पर विराजमान थे। रुद्रम्मा की अपनी सन्तान न होने पर भी हरिहरदेव चक्रवर्ती का नवासा ही था, इसलिए लोगों में यह धारणा उत्पन्न हो गयी थी कि वही चक्रवर्ती का उत्तराधिकारी बनेगा।

रुद्रम्मा की पुत्री मुम्मडम्मा के एक पुत्र हुआ। जब वह चार वर्ष का था, उस समय रुद्रम्मा ने उसे गोद लिया था। वही बालक प्रतापरुद्रदेव है।

गणपतिदेव के पुत्र, पौत्र अथवा दौहित्र के न होने से तथा उनके वृद्ध तथा रोगी हो जाने के कारण यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि राज्य का उत्तराधिकारी कौन होगा।

महालय अमावस के दिन गणपतिदेव सभा बुलाते हैं। उस सभा मे उत्तराधिकारी के बारे में चर्चा होती है। वीरभद्रेश्वर का कथन है कि हरि-हरदेव ही उत्तराधिकारी हो सकते हैं। महादेवराज कहते हैं कि मेरे पुत्र प्रतापरुद्र को राज्य मिलना चाहिए। जैन आचार्य वीरभल्लट देशिक वीरभद्रेश्वर का समर्थन करते है। उस अवसर पर वीरभद्रेश्वर राजगुरु श्री विश्वेश्वर शम्भु देशिक के मत को जानना चाहते हैं। श्री देशिक चक्रवर्ती के पार्श्व में पुरुषवेश में बैठी हुई रुद्रमा की ओर संकेत कर बताते हैं कि उन्हीं का राज्य-भार सम्हालना शास्त्र सम्मत है। 'राजगुरु की आज्ञा को शिवजी की आज्ञा' मान कर चक्रवर्ती उनके आदेश को सिर आँखों रख लेते हैं। सारी सभा महाराज रुद्रदेव के जयजयकारों से गूँज उठती है। बेचारे वीरभद्रेश्वर की आशाओं पर पानी फिर जाता है। वह अपने पुत्रों तथा अनुयायियों के साथ एकान्त में एकत्रित हो कर यह निश्चय करते हैं कि रुद्रमा के राज्य को छिन्न-भिन्न कर दें। उस स्थिति में वे काकतीय साम्राज्य को विच्छिन्न करने के लिए उद्यत कलिंग, यादव, पल्लव तथा पांड्य नरेशों को सहयोग देने का और आन्ध्र राज्य में निवास करने वाले जैनियों का राजद्रोह करने के लिए उभाड़ने का निश्चय करते हैं। वीरभल्लट देशिक की बात न मानकर, विश्वेश्वर शम्भु देशिक की बात मानकर, रुद्रमदेवी के राजतिलक का निश्चय कर, गणपतिदेव ने शैव गुरु के प्रति पक्षपात दिखा, अपने आचार्य का अपमान किया है, यह सोच कर जैनी वीरभद्रेश्वर के षड्यन्त्र में भाग लेने के लिए तैयार हो जाते हैं। उस समय सारे राज्य में जैनी ही पटवारी थे। राज्य के कार्य को स्तम्भित करने के लिए वे सब हड़ताल करते हैं।

उस अवसर पर अपने सौ शिष्यों के साथ तिक्कन्ना सोमयाजी ओरुगलु आते हैं। हड़ताल की स्थिति को देखकर अपने शिष्यों को पटवारी का काम सम्हालने का आदेश देते हैं। जैनी पटवारियों की नौकरियाँ छूट जाती हैं। उन जैनियों के मन में राजद्रोह की भावना तीव्रतर हो जाती है। जैनियों के मन्दिर राजद्रोह के कार्य कलाप के अड्डे बनते हैं। शैव-प्रधानतया वीरशैवों

तथा जैनियों में आये दिन संघर्ष होते रहते हैं। लौकिक व्यवहारों से असंपृक्त जैन आचार्य अथवा विश्वेश्वर शम्भु देशिक आदि शैव गुरुओं को इन संघर्षों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इन झगड़ों में भाग लेने वाले नाम मात्र के जैन तथा शैव थे। इतना सब कुछ होते रहने पर भी, रुद्रमदेवी नेमिनाथ के मन्दिर की स्थापना के अवसर पर, उसके निर्माणार्थ एक लाख सुवर्ण मुद्राएँ प्रदान करती हैं।

तिक्कन्ना सोमयाजी, अन्नयमन्त्री आदि मेधावियों, त्रिपुरान्तक, मेचय नायक आदि वीरों तथा अद्वैती शैव ब्राह्मणों के सहयोग से आन्ध्र साम्राज्य अविचल एवं अविकल बना रहता है। साम्राज्य पर आक्रमण करने वाले सभी शत्रु पराजित हो जाते हैं। आन्ध्र साम्राज्य तथा आन्ध्र वैभव की प्रतिष्ठा द्विगुणीभूत होती है।

इस प्रकार की घटनाओं से प्रत्येक जाति का इतिहास भरा पड़ा है। उस जाति में जन्म लेने वाले लेखक का अपनी जाति के इतिहास के महोज्ज्वल अध्यायों की अपनी रचनाओं के लिए वस्तु के रूप में ग्रहण करना अत्यन्त स्वाभाविक है। जाति के अतीत वैभव के चित्रण द्वारा वर्तमान पीढ़ी को कर्तव्य का बोध कराने की इच्छा रखने वाले लेखक के लिए यह आवश्यक भी है। अपनी जाति की विजय तथा वैभव का चित्रण करते समय, पराये राजाओं के पराजयों का वर्णन करना ही पड़ता है।

शैव और जैनियों में संघर्षों का होना, उन संघर्षों में जैनियों का पिस जाना तथा जैन धर्म का नष्टप्राय हो जाना आदि ऐतिहासिक तथ्य हैं। यह इतिहास में सर्वसामान्य है कि जब-जब प्रजा की अभिरुचि बदलती है तब-तब धर्मों का सौभाग्य चक्र भी बदलता रहता है। शास्त्रीजी ने अपने उपन्यास में प्रसंगानुकूल उस तथ्य का चित्रण किया है। शास्त्रीजी ने जाति, धर्म, सम्प्रदाय सम्बन्धी अपने विचारों को अतीव संयम के साथ अभिव्यक्त किया है। वीरशैव सम्प्रदाय हो अथवा वैष्णव, जैन धर्म हो अथवा बौद्ध, प्रसंग पड़ने पर भी किसी पात्र से अनुदात्त वाक्य नहीं कहलाये हैं। प्राचीन आन्ध्र साहित्य में इस विषय के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि वीरशैव तथा अद्वैतियों ने जैन तथा बौद्ध धर्मों का निरातंक रूप से खण्डन किया था तथा उन्हें खूब सताया भी था। आधुनिक समाज के मनोविज्ञान को दृष्टि में रख कर लेखक ने उन दिनों के धार्मिक वैमनस्य का अतीव निष्पक्षता से वर्णन किया है।

आन्ध्र साम्राज्य पर आक्रमण करने वाले कोप्पेरुंजिगड् के चरित्र चित्रण में लेखक ने जिस सहानुभूति पूर्ण दृष्टि से काम लिया है, वह प्रशंसनीय है। इस अवसर पर भास के नाटक-प्रदर्शन के उपलक्ष्य में 'कोनसीमा'[1] के पंडितों की आलोचनाएँ अत्यन्त प्रतिभा समायुक्त हैं। ये वाद विवाद भास के नाटकों के प्रति अभी हाल तक परम्परागत अनादर की सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

ओरुगल्लु के चहुँ ओर प्रस्तर प्राकार के निर्माण के लिए सुरक्षित स्थान को अपने वश में कर, उस स्थान को खाली करने से इनकार करना, पटवारी का काम न कर हड़ताल करना, राजद्रोही वीरभद्रेश्वर को सहयोग प्रदान करना आदि जैन धर्मावलंबियों के अपराध हैं। इस उपन्यास में कुशलता के साथ यह सिद्ध किया गया है कि यदि जैनियों को हानि हुई तो उसका एकमात्र कारण उनके राजद्रोह की भावना ही है। धार्मिक द्वेष का वहाँ प्रश्न ही नहीं था। नेमिनाथ की स्थापना के उपलक्ष्य में राज्य के सभी बड़े-बड़े सरदार दर्शनार्थ जाते हैं तो जैनी षड्यन्त्र रच कर उन्हें पातालगृह में ढकेल देते हैं।

जैनाचार्य तो उदार और निर्लीप्त स्वभाव के थे। राज-सभा में उनका विशेष सम्मान होता था। कतिपय राजशत्रुओं ने जैनियों का वेष धारण किया था। गेहूँ के साथ घुन के समान उन राजद्रोहियों के साथ कुछ निरपराध जैनी भी सताये गये होंगे। मुख्य रूप से आंध्र वीरों का जैनियों को कुचल देने का यही कारण है। राजद्रोह करने वाले जैनी अपने षड्यन्त्र में सहयोग न देने वाले आचार्य सिद्ध नन्दि के मुख में कपडे ठूंस कर बन्दी बना देते हैं। इसी घटना से हो सकता है, उनका मन बदल गया हो और उपन्यास के अन्त में वे (आचार्य सिद्ध नन्दि) शैवदीक्षा ग्रहण करते हैं। जैनी निरीश्वरवादी हैं। काकतीय युग में सामान्य जनता द्वारा शिवजी की आराधना परमेश्वर के रूप में होती थी। सम्भवतः ईश्वर की रूपकल्पना के बिना मानव के मन को तृप्ति तथा शांति नहीं होती है। वर्ण भेद और हिंसा वृत्ति के बढ़ जाने पर क्षणिक असन्तोष के कारण निरीश्वरवाद फैलता है फिर भी क्रमशः मानव की भावना सेश्वर की ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रहती। साधारण मानव का स्वभाव है कि अपने से अतीत और महत्तर शक्ति अथवा व्यक्ति को आदर्श मान कर उसकी आराधना करे। प्रायः

1. गोदावरी का तीर प्रान्त जहाँ वेद विद्या और संस्कृत के उद्भट पंडित निवास करते हैं।

सभी धर्मों में यही लक्षण दृष्टिगोचर होता है। जैन और बौद्ध धर्म भी इस सिद्धान्त के अपवाद नहीं हैं। बौद्धों का बोधिसत्वों की तथा जैनियों का तीर्थकरों की उपासना करने में मानव-मन की यही भावना निहित है। किसी महापुरुष की आराधना करने का अपेक्षा स्वयं पुरुषोत्तम परमेश्वर की आराधना करने में अधिक आनन्द है। सभी वैदिक सम्प्रदाय भगवान का अर्थ पुरुषोत्तम ही मानते हैं। उसके लिए आदि और अन्त नहीं हैं तथा वह सर्वशक्तिमान एवं नित्यमुक्त है। वह सच्चिदानन्द स्वरूप है। मानव की आकांक्षा है कि स्वयं भी उस अवस्था को प्राप्त कर सके। इसीलिए उसे आदर्श मान कर मानव उसकी आराधना करता है। लगता है कि निरीश्वर भावना की अपेक्षा सेश्वर भावना ही मानव स्वभाव के अनुकूल पड़ती है। आचार्य सिद्ध नन्दि का, षड्यन्त्रों के आकर बने हुए जैन धर्म को तज कर, शैव सम्प्रदाय की दीक्षा ग्रहण करने में, कह सकते हैं कि मानव मन के सहज परिणाम को ही चित्रित किया गया है।

इस उपन्यास में रुय्यम्मा का चरित्र अत्यन्त सुकुमार बन पड़ा है। इतिहासकारों का मत है कि वह रुद्रम्मा की दूसरी सन्तान है। वह ब्राह्मण अन्नयमंत्री की पत्नी हुई। इस उपन्यास के लेखक को यह जँचा नहीं। अतः शास्त्री जी ने कल्पना की कि रुय्यम्मा कोई अनाथ ब्राह्मण बालिका थी जिसे रुद्रम्मा ने गोद लिया था। वैदिक धर्म में अचंचल निष्ठा रखने वाले अन्नय मन्त्री के शील की रक्षा करने के लिए की गयी यह कल्पना समुचित लगती है। भारतीय राजनीति के ग्रंथों में महामंत्री के लिए जिन लक्षणों को निर्वाचित किया गया है, अन्नयमंत्री में वे सभी लक्षण एक साथ पुंजीकृत हैं। वे सच्चे अर्थों में महामंत्री थे। उनका शीलसौन्दर्य अत्यन्त प्रभावशाली बन पड़ा है।

तिक्कना सोमयाजी महापुरुष है। उनके गुणशील का वर्णन करना कठिन है। तत्कालीन विपत्तियों से काकतीय साम्राज्य की रक्षा कर उसे सुस्थापित करने वाली महाशक्ति तिक्कना में ही थी। वे महाकवि, महामंत्री, महावीर, महायोगी और जीवन्मुक्त पुरुष थे। इस स्तर के तीसरे व्यक्ति हैं विश्वेश्वर शम्भुदेशिक। ये तीनों निर्लिप्त परन्तु व्यवहार कुशल व्यक्ति हैं। धर्म और न्याय उनके परमलक्ष्य हैं। समन्वय की साधना ही उनके जीवन का सिद्धान्त है।

रुद्रम्मा के चरित्र-चित्रण करने में शास्त्री ने बड़ी निपुणता से काम लिया है। रानी और पत्नी के रूप में उसके हृदय में कर्तव्यों के संघर्ष की

कल्पना कर, उस अन्तर्द्वन्द्व में उसके स्त्री सुलभ हृदय की वेदना तथा राजधर्म-निष्ठ उसकी आत्मशक्ति की कर्तव्य-परायणता का अतीव सुन्दर चित्रण किया है। उसके अन्तर्द्व द्व की तुलना श्रीराम के सीता परित्याग के प्रसंग से की जा सकती है। पति के तथा राजा के रूप में जब अपने कर्तव्यों में संघर्ष उत्पन्न हुआ तब श्रीरामचन्द्र जी ने राजधर्म को प्रधानता दी थी। रुद्रमदेवी ने भी यही काम किया। अन्नयमंत्री को राजद्रोही मान कर बन्दी बनाने में भी रुद्रम्मा ने उसी राजधर्म का निर्वाह किया है।

इस ऐतिहासिक उपन्यास की रचना करने के लिए शास्त्री जी ने अनेक विषयों का संकलन किया था। आंध्र प्रान्त के तत्कालीन भौगोलिक राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि विषयों का समग्र रूप से अनुसन्धान कर, समुचित कल्पनाएँ जोड़ कर, प्रभावशाली तथा समुज्ज्वल इतिवृत्त का निर्माण किया है तथा सरल तथा मुहावरेदार भाषा में सर्वजनरंजक उपन्यास की रचना की है। प्रारम्भ से अन्त तक एक साँस में पढ़ने की शक्ति को यदि उपन्यास की उत्तमता की कसौटी माना जाए तो निस्सन्देह कहा जा सकता है कि श्री नरसिंह शास्त्री का यह उपन्यास उत्तम कोटि का है।

कुछ प्रमुख उपन्यास–9

कीलुबोम्मलु

श्री मोदलि नागभूषण शर्मा

'कीलुबोम्मलु' आंध्र के ग्रामीण जीवन विधान का मानो अद्भुत तथा वास्तविक दर्पण है ।

स्वतंत्रता के बाद हमारे गाँव किस प्रकार परस्पर के संघर्ष और राजनीतिक दलबन्दी के अड्डे बने हुए हैं, भोले-भाले जन उसमें किस प्रकार पिसते जा रहे है, अपराध करने वाले किस प्रकार बड़े बन रहे हैं, यह उपन्यास इन सब वास्तविकताओं का समग्र चित्रण करता है । इसके साथ ही इस उपन्यास में इस दल-दल में फँसे व्यक्तियों के मानसिक संघर्ष को तथा इस अन्तर्द्वन्द्व में निहित मानव-स्वभाव को तात्त्विक रूप में प्रदर्शित किया गया है ।

स्वतन्त्रता के बाद आंध्र साहित्य में प्रकाशित रचनाओं मे 'कीलुबोम्मलु' (कठपुतलियाँ) का अपूर्व स्थान है। आंध्रों के, वह भी ग्रामीण आंध्रों के जीवन विधान का यह अद्भुत तथा वास्तविक दर्पण है। इस उपन्यास में लगभग एक दशाब्दी की अवधि के आंध्र के ग्रामों की घटनाओं का वर्णन तथा उनकी व्याख्या प्रस्तुत की गयी है।

रचना प्रयत्न के प्रारम्भिक समय की 'भिक्षापात्र' शीर्षक नाटिका में कुछ हद तक साम्यवाद की झलक होने पर भी, श्रीकृष्णाराव की शैली मुख्य रूप से व्याख्या प्रधान रही है। तब से ले कर आज तक उनकी प्रकाशित सभी रचनाएँ व्याख्यात्मक ही है। यह व्याख्या कभी प्रत्यक्ष रूप से होती है, तो कभी ('कीलुबोम्मलु' में जैसी) परोक्ष रूप से होती है। किन्तु तत्त्वशास्त्रियों मे साधारणतया जो क्लिष्टता तथा दुर्बोधता दृष्टिगत होती है, वह इनकी रचनाओं में कहीं नही है। प्रत्येक विषय की गहराई में पैठ कर, विषय का स्पष्ट रूप से पाठकों तक पहुँचाने की शक्ति रखने वाले कतिपय तेलुगु लेखकों में डॉ. जी. वी. कृष्णाराव एक हैं। इसलिए 'कीलुबोम्मलु' पाठकों को केवल आनन्दित करने वाला उपन्यास मात्र न रह कर, उन्हें विचारोन्मुख करने वाले कलात्मक तथा तात्विक इतिहास के रूप में दर्शन देता है।

— 2 —

'कीलुबोम्मलु' वर्तमान ग्रामीण आंध्र का व्याख्यात्मक इतिहास है। एक वास्तविक चित्र की कलात्मक रूप से व्याख्या करना ही इसका ध्येय है। इसमें राजनीतिक (चूँकि बिना राजनीति के ग्राम हो ही नहीं सकते) और थोड़ी बहुत दार्शनिक (अपने रूढ़ि अर्थ में) विषयों की चर्चा भी है। लेकिन इस उपन्यास का संबंध न राजनीति से है, न वेदान्त से। लेखक अपनी रचना की भूमिका में ही पाठकों को इस प्रकार सचेत करते है :

"यह प्रणय गाथा नहीं है। प्राचीन इतिहास भी नहीं है। भारतीय धर्म की विशिष्टताओं का बोध कराने वाला भी नहीं है। व्यक्तियों के बारे में अथवा पार्टियों के बारे में अथवा आगामी चुनाव को लक्ष्य में रख कर यह रचा नहीं गया है।...इस रचना के लिए कला की अनुभूति ही प्रधान है। दलगत आवेश को यथाशक्ति भूल कर पढ़ सकने पर ही यह अनुभूति इस उपन्यास के द्वारा संभव है।" इस उपत्यास को समझने के लिए इन बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है।

इस उपन्यास की नींव आंध्र के ग्रामीण जीवन पर आधारित है। उसमें भी स्वतन्त्रता के बाद ये गाँव किस प्रकार परस्पर के सघर्ष और राजनीतिक दलबन्दी के अड्डे बने हुए हैं, भोले-भाले जन उसमें किस प्रकार पिसते जा रहे हैं, अपराध करने वाले किस प्रकार बड़े बन रहे हैं इन सब वास्तविकताओं का इस उपन्यास की कथावस्तु चित्रण करती है। लेकिन यह केवल इन विषयों का वर्णन करने वाला ही नहीं, पर इस फेर में फँसे कुछ व्यक्तियों के मानसिक संघर्ष को तथा इस अन्तर्द्वन्द्व में निहित मानव-स्वभाव को तात्विक रूप में प्रदर्शित करने वाला ग्रंथ है।

— 3 —

'कीलुबोम्मलु' की कथा संक्षेप में इस प्रकार है—

किसी गाँव में पुल्लय्या नामक एक प्रतिष्ठित किसान है। उसकी पत्नी का नाम लक्ष्मम्मा है। पुल्लय्या को पत्नी के प्रति गौरव है और उसकी जबान से भय भी। एक बार पुल्लय्या शहर जाता है और वहाँ शेखरम् नामक काग़ज़ के मिल मालिक के लिए मारवाड़ी साहूकार के पास 5000=00 के लिए जमानत देता है। यह उसकी पत्नी को मालूम नहीं। शेखरम् प्रगतिवादी विचारधाराओं का व्यक्ति है। अपने आदर्शों के कारण शेखरम् की हालत के बिगड़ जाने पर पुल्लय्या को यह डर लगता है कि साहूकार वे पाँच हज़ार रुपये मेरे पास से ही वसूल कर लेगा। रुपये की बात नहीं, कहीं लक्ष्मम्मा को मालूम न हो जाए, पुल्लय्या को इसका भय अधिक व्याकुल करता है!

ऐसी बातों के गाँव भर में फैल जाने में कितनी देर लगेगी? इधर-उधर से अन्त में वह बात पुल्लय्या की पुत्री सीता को मालूम हो जाती है। सीता को पहले विश्वास नहीं होता। उस दिन रात को जब पुल्लय्या सोने जा रहा था, सीता पूछ लेती है कि लोग कहते हैं कि तुमने चन्द्रशेखरम् के

पास जमानत रखी है। क्या यह सच है?" नींद की खुमार में पुल्लय्या अनायास ही कह देता है कि "लोगों को और काम ही क्या है?"

इन बातों को सुन कर सीता निश्चय कर लेती है कि अपने पिता का चन्द्रशेखरम् के लिए जमानत देने की अफ़वाह झूठी है। दूसरे दिन सबेरे यह बात बसवाचारी को मालूम हो जाती है और बसवाचारी के कानों में पड़ी बात वहीं रुकती नहीं, गाँव भर में फैल जाती है।

आगे की सारी कथा, ग़लती से कही गयी अपनी झूठी बात को निभाने के लिए पुल्लय्या के किए प्रयत्न तथा उसके परिणाम पर आधारित है।

कुछ दिनों के बाद लक्ष्मम्मा अपने मुंशी सत्यनारायण को बुला कर पूछती है। सत्यनारायण का प्रश्न है कि "आपसे किसने कहा?" लक्ष्मम्मा कहती है कि तुम्हारे मालिक ने ही सीता से कहा है।" और वह शेखरम् पर ज लसाजी का दावा बना देती है और उसे (अपने भाई के पुत्र शेषगिरि नामक वकील से) वकील नोटिस दिलाती है। घर आ कर, यह बात जान कर पुल्लय्या क्रुद्ध हो जाता है। पहले ही पत्नी से सच्ची बात कह देता, तो कितना अच्छा होता? अब वकील के पास जा कर नोटिस वापस ले लें? पत्नी का अपमान न होगा इससे? बेचारे पुल्लय्या को कुछ भी नहीं सूझता।

सत्यनारायण को यह सब बड़ा आश्चर्यजनक लगता है। उसे पुल्लय्या के जमानत की बात मालूम थी। पुल्लय्या तो कभी झूठ बोलने वाला नहीं। अब इस विषय में ऐसा क्यों कर रहा है? सच्ची बात बतला न देने पर, उसकी अन्तरात्मा उसे कोसने लगती है।

शेखरम् की आर्थिक दशा बहुत बिगड़ जाती है। कालेज के दिनों में वह साम्यवादी था। आधुनिक उद्योग-धंधे खोलने चाहिए, मज़दूर को सब प्रकार की सुविधाएँ दिलानी चाहिए— इस प्रकार के कई आदर्शों के साथ उसने काग़ज़ बनाने की एक मिल खोली थी। किन्तु मज़दूरों ने अपने मालिक पर विश्वास नहीं किया। अधिक सुविधाओं और वेतन की माँग की। उसने कहा कि मिल को सहकार पद्धति पर चलाएँगे। मजदूर राज़ी नहीं हुए। मिल बन्द पड़ गयी। शेखरम् ने अपना सारा धन और इधर-उधर से उधार लायी हुई रक़म भी उसी मिल के मुँह में झोंक दिया था। अब तो दिवाला निकल गया। सरे बाज़ार चलते शरम लगती थी। इतने में पुल्लय्या के नाम का, लक्ष्मम्मा का दिलाया वकील-नोटिस उसे मिलता है। अरे, यह कैसा?

पुल्लय्या अपने वचन को क्यों तोड़ रहा है ? तिस पर जालसाज़ी का इलजाम ? शेखरम् निश्चय करता है कि मैं मज़दूरों के पक्ष का हूँ, इसलिए पूँजीपति पुल्लय्या ने इस तरह विरोध ठान लिया है। गाँव वालों के लिए तो यह अन्तर्राष्ट्रीय समस्या ही बन जाती है।

मारवाड़ी के पास से जवाब आता है। पास में खड़े रह कर लक्ष्मम्मा पुल्लय्या से उसका जवाब दिलाती है। पर, पुल्लय्या अपनी आत्मा को शान्त नहीं रख सकता। हृदय में इतने अन्तर्द्वन्द्व को दबा कर, अपनी साख तथा गौरव को बनाए रखने के लिए, वह शेखरम् के ख़िलाफ़ प्रचार करता रहता है।

यह जान कर कि शेखरम् सबकुछ खो कर, कंगाल-सा बन गया है, उस गाँव के हरिजन-आश्रम की मन्त्रिणी अम्मायम्मा को शेखरम् के बाल बच्चों पर अपार करुणा उत्पन्न होती है। वह शेखरम् की पत्नी ललिता के पास जाती है और कहती है कि बच्चों को हरिजन-आश्रम में रख लूँगी। बड़े घर की लड़की ललिता के लिए ये बातें जले पर नमक का काम करती हैं। वह इनकार कर देती है और अम्मायम्मा को भला-बुरा सुनाती है। अम्मायम्मा क्रुद्ध हो कर चली जाती है।

इस मुकद्दमे पर दोनों पक्ष वाले तीव्र रूप से वादोपवाद करने के अतिरिक्त अपने-अपने गवाहों को तैयार करने में लग जाते हैं। उन सब में मल्लय्या का प्रयास तीव्रतर है। क्योंकि मल्लय्या गाँव के प्रत्येक विषय में पुल्लय्या का प्रतिस्पर्धी है।

उस गाँव में दोनों पक्ष वालों को समान रूप से प्रिय हैं डा. वासुदेवराव। वे सत्यनारायण के मित्र हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन में जेल की यात्रा कर आते हैं। गाँवों में रह कर प्रजा-सेवा करने के उद्देश्य से वे अपने छोटे गाँव में चिकित्सा कार्य का आरम्भ करते हैं। उनका विचार है कि किसी भी विषय के बारे में निर्णय लेने से पहले उस पर सप्रमाण चर्चा होनी चाहिए। उनका दृढ़ विश्वास है कि प्राचीन और आधुनिक सिद्धान्तों के बीच आज के इस संघर्ष में, विवेकशील व्यक्तियों को चाहिए कि संकुचित स्वार्थ को छोड़, समस्त मानव जाति के लिए सहेतुक और समुचित धर्मपथ का दिग्दर्शन कराएँ। इन सिद्धान्तों के कारण लगता है कि वे लेखक की विचारधारा के अत्यन्त निकट हैं।

पुल्लय्या का दूसरा पुत्र रामाराव इस डाक्टर का अनुयायी है। पुल्लय्या का प्रथम पुत्र मर गया था। अब उनकी दो ही सन्तानें थीं। एक रामाराव और दूसरी सीता। रामाराव भी अक्सर घर पर नहीं आता। वह दर्शन विषय ले कर एम० ए० करके शहर में ही रह जाता है। वहाँ पुत्र क्या कर रहा है, इसका पता पुल्लय्या को नहीं।

यह सुन कर कि अपने पिता ने चन्द्रशेखरम् पर जालसाजी का मुकद्दमा चलाया, रामाराव चकित रह जाता है। पिता ने स्वयं उसे सारी बातें बतायी थीं। उन बातों का स्मरण दिलाते हुए वह अपने पिता को पत्र लिखता है। उसके लिए जो जवाब आता है, वह और भी आश्चर्यजनक ! ".. .. इस विषय के बारे में तुम्हें कुछ भी नहीं मालूम। इसलिए तुम्हारे लिए चुप्पी साध लेना अच्छा है। तुम्हारी माँ का कहना है कि इस बीच तुम गाँव की तरफ़ आओ ही मत।" यह है पत्र का सारांश। तभी गाँव से आयी हुई सीता से रामाराव इसकी चर्चा करता है। सीता सभी बातों को सविवरण सुनाती है। रामाराव गाँव जाने का ही निश्चय कर लेता है।

मुकद्दमे में जीतने के लिए सभी अपनी-अपनी ओर से प्रयत्न करते रहते हैं। उसी सिलसिले में शेखरम् सत्यनारायण की मदद माँगता है। कहता है कि आपके पूर्वजों ने कभी ऐसे अन्याय नहीं किये हैं। लेकिन सत्यनारायण अपने साहूकार मालिक के खिलाफ़ काम करने से इनकार कर देता है। सत्यनारायण की आशा थी कि अपनी भूल को समझ कर किसी न किसी दिन स्वयं पुल्लय्या ही मुकद्दमा छोड़ देंगे।

इस बीच गाँव में आततायियों के अत्याचार बढ़ने लगते हैं। सत्यनारायण के घर कोई आग लगा देते हैं। अपने लोगों के प्रोत्साहन से वह कुछ दिन के लिए अपने मित्र डाक्टर के घर रहने के लिए चला जाता है। उसके दो दिन बाद मल्लय्या के तीस एकड़ ज़मीन के फूस के ढेर में, उसके बाद हरिजन-आश्रम में आग लगायी जाती है। अम्मायम्मा पत्र-पत्रिकाओं में लिखती हैं कि ये सब कम्यूनिस्टों के कारनामे हैं।

यह समाचार पढ़ कर डाक्टर आश्चर्यचकित रह जाते हैं। उन्हें यह अच्छा नहीं लगता कि शेखरम् और पुल्लय्या के बीच के झगड़े इस प्रकार फैलते जाएँ। वे तय कर लेते हैं कि किसी भी तरह दोनों में सुलह कर दें। लेकिन सुलह करने के लिए पुल्लय्या के पास आने से शेखरम् इनकार कर

देता है। वह तो मज़दूर संघ क़ायम कर साहूकारों के खिलाफ़ मज़दूरों को भड़काने में लगा रहता है।

मुकद्दमे के शुरू होने से एक दिन पहले रामाराव अपने गाँव आता है। माता-पिता को समझाने का उसका प्रयत्न असफल हो जाता है। माँ कहती है कि तुम शहर में ही रह जाओ। उसके इस व्यवहार से रामाराव दंग रह जाता है, किन्तु वह पिता के खिलाफ़ गवाही देने का निश्चय कर लेता है।

रामाराव के गाँव में आने की बात जान कर मल्लय्या अम्मायम्मा की सलाह ले कर, रामाराव को कम्युनिस्ट के नाम पर गिरफ़्तार करवा कर, मानसिक रूप से पुल्लया पर चोट करने की योजना बनाता है। यह अवसर पा कर अम्मायम्मा पुल्लय्या के पास जा कर कहती है कि रामाराव को पुलिस गिरफ़्तार करने जा रही है और फौजदारी की जगह उसे राजनीतिक डेटिन्यू बनाने के बहाने पाँच सौ रुपये ऐंठ लेती है।

पुल्लय्या की बड़ी बहू रंगम्मा अपने ससुर के जानबूझ कर देवर को पुलिस के हाथों सौंपने की बात सुन कर अवाक् रह जाती है। तुरन्त रामाराव को बुलवा कर सब कुछ कह सुनाती है। यह बात सुन कर वह अपने आपको पुलिस के हवाले कर देता है।

मुकद्दमा शुरू हो जाता है। उसके साथ गाँव की परिस्थितियाँ भी बद से बदतर हो जाती हैं।

शेखरम् की हालत बड़ी दयनीय हो जाती है। क़र्ज़दारों के तकाज़ों से फ़ुरसत नहीं मिलती। उसके ससुर उसके कारण भिखारी बन, अन्त में आत्म-हत्या कर लेते हैं। लेकिन शेखरम् का सारा ध्यान मुक़दमे पर ही लगा रहता है। व्यर्थ ही मुझे अदालत में बुलवाकर तंग कर रहे हैं, इस विचार के कारण धनिक वर्ग पर उसे बड़ा क्रोध आता है। और इसलिए मजदूरों को भड़काते रहना ही उसका काम हो जाता है।

एक दिन जोश में आ कर मज़दूर जुलूस निकालते हैं। उस होहल्ले से घबरा कर पुल्लय्या का बछड़ा पोलय्या के पुत्र के पेट में सींग मारता है। बच्चे की आँतड़ियाँ बाहर निकल आती हैं। पोलय्या नाराज़ हो बछड़े को मारता है। वह मर जाता है। इस पर पुल्लय्या आग बबूला हो जाता है।

इन परिस्थितियों को देख कर सरकार गाँव में मलबार पुलिस को ला बिठा देती है। उनके आगमन से परिस्थितियाँ और भी बिगड़ जाती हैं।

सभी लोग एक तरह से छिपे-छिपे रहते हैं। पुलिस के अत्याचारों की कोई हद नहीं रहती। बेबस जानवरों को पीटते हैं। स्त्रियों पर बलात्कार करते हैं। लोगों को नंगे कर बाज़ारों में घुमाते हैं। इस पर रोष प्रदर्शित करने वाले डाक्टर राव को पीटते हैं, बीच-बचाव करने के लिए आने वाले पोलय्या को बुरी तरह से मार डालते हैं।

अन्त में डाक्टर राव अपने मित्र किसी मन्त्री महोदय को पत्र लिखते हैं, पुलिस के इन जुल्मों के बारे में। तुरन्त मलवार पुलिस वापस बुला ली जाती है।

शेखरम् को तीन साल की सजा सुनायी जाती है! पुल्लय्या की विजय पर सारा गाँव खुशियाँ मनाता है। इस अवसर पर पुल्लय्या को खुश करने के लिए, मल्लय्या से सलाह कर, अम्मायम्मा उनके अभिनन्दन के लिए सभा का आयोजन करती है। सभा में सम्मान-पत्र मल्लय्या समर्पित करता है।

सभा से लौट आने पर पति से लक्ष्मम्मा कहती है।

"धर्म की ही जीत होती है। यही संसार के लिए आदर्श है।"

"सच है। सत्य और धर्म की जीत न हो तो और किसकी?"

गाँव के पुस्तकालय के चबूतरे पर बैठ कर सत्यनारायण मधुर कंठ से गाता रहता है। "यदा यदा हि धर्मस्य...सम्भवामि युगे युगे।"

यह इस उपन्यास की प्रधान कथा है। इसके साथ डा० राव तथा सत्यनारायण की पत्नी पद्मा की कथा, अपनी पत्नी की चरित्र हीनता के कारण सत्यनारायण का पागल बन जाना, डा० राव और रामाराव का सदा के लिए अपना गाँव छोड़ जाना आदि कतिपय मुख्य प्रसंग हैं।

—4—

इस उपन्यास का निर्वाह डा० कृष्णाराव ने दो विभिन्न परिधियों में किया है। पहला, वास्तविकता की रूप कल्पना करना, प्रत्यक्ष रूप से अपनी आँखों देखी घटनाओं को कलात्मक रूप देना। दूसरा मानसिक अर्थात् मनस्तत्व के परिशीलन पर आधारित। एक ही चरित्र में दो विभिन्न प्रवृत्तियों के प्रदर्शन के लिए लेखक को यह बहुत सहायक रहा है। वास्तविकता तथा मनोविज्ञान को एक ही घटना में, एक ही चरित्र में जोड़ कर रचना करना अत्यन्त साहस का कार्य है और लेखक को उसमें पूरी सफलता मिली है।

पुल्लय्या अपने किये पर कुढ़ता रहता है और दूसरी ओर आत्मवंचना में लगा ही रहता है। शेखरम् की भी यही दशा है। सच पूछा जाए तो इसी प्रत्यक्ष तथा परोक्ष अथवा मानसिक शक्तियों के संघर्ष का चित्र ही 'कीलुबोम्मलु' में निखर आया है। इस उपन्यास का प्रत्येक पात्र इसी प्रकार के अन्तः संघर्ष का शिकार बना हुआ है।

इस उपन्यास के पात्र कहाँ तक सच्चे हैं, आन्ध्र के ग्रामीण-जीवन से परिचित किसी व्यक्ति से कहने की ज़रूरत नहीं है। इन वास्तविक पात्रों के मध्य जो संघर्ष होता है, वह सचमुच परिस्थितियों तथा उनके कार्यों के कारण न हो कर, उनकी प्रवृत्तियों तथा संस्कार पर आधारित है, इसे डा० कृष्णाराव ने बड़ी सफलता के साथ सिद्ध किया है। इस रचना का प्रत्येक छोटा पात्र अथवा प्रत्येक छोटी घटना लेखक की सूक्ष्म अनुशीलन शक्ति का उदाहरण है। ग्रामीण जनता का तथा उनकी समस्याओं का इतना सूक्ष्म तथा आलोचनात्मक चित्रण करने वाला शायद ही कोई दूसरा उपन्यास है।

इतिवृत्त के निर्माण में भी लेखक ने दो दृष्टिकोणों से काम लिया है। घटनाओं के महत्त्व के आधार पर उनकी गम्भीर व्याख्या करना एक पद्धति है। किन्तु इसमें लेखक स्वयं कोई व्याख्या नहीं करता। किसी एक पात्र से व्याख्या कराता है।

इस पद्धति के उदाहरण के लिए पुल्लय्या की बड़ी बहू रंगम्मा अपने लड़के जग्गाराव की शरारत से ऊब कर रोती हुई कहती है कि "हे भगवान, इसके पिता को तो ले गया पर इसे क्यों छोड़ गया।" इन बातों को सुन पुल्लय्या काँप उठता है। अपने आपको भूल बहू के पास आता है और रुँधे स्वर में कहता है कि "बेटी! रो मत, सारा दोष मेरा है। अब ऐसा कभी नहीं करूँगा।" और बहू के पैर छू लेता है!

यह घटना परोक्ष रूप से प्रधान पात्र के मनस्तत्व को स्पष्ट करती है। पुल्लय्या अपने किये दोष के लिए मन में कुढ़ता रहता है। उसके मन में वेदना है कि मेरे किये कर्मों के कारण ही मेरा बड़ा लड़का मर गया है। उस वेदना और कुढ़न का परिणाम ही उसका यह कार्य है।

अब व्यंग्यात्मक व्याख्या करना दूसरी पद्धति है। ऐसी व्याख्याएँ इस उपन्यास में जगह-जगह हैं। उदाहरण के लिए एक स्थान पर अम्मायम्मा के बारे में लिखते हैं कि :—

"वह चाहती तो राजनीतिक क़ैदी के रूप में पाँच एकड़ ज़मीन ले सकती थी। लेकिन उसने आवेदन-पत्र तक नहीं भरा। ऐसे व्यक्ति के बारे में लोग कहते हैं कि उसने हरिजन छात्रावास के निर्माण के लिए आए सिमेंट, लोहा आदि में अधिक भाग काले-बाज़ार में बेच कर पैसे कमाए हैं। इन बातों पर विश्वास नहीं करना चाहिए। नहीं तो प्रति वर्ष वार्षिक-उत्सव के अवसर पर हाईकोर्ट के जज साहब या कोई प्रमुख मन्त्री अथवा कोई राष्ट्रीय नेता क्यों पधारते ?"

इस उपन्यास के पात्रों तथा घटनाओं को सार्वजनीन बनाने के लिए लेखक ने एक विनूतन पद्धति का अवलंबन किया है। सारी कथा जिस गाँव में होती है, उसका लेखक नाम तक नहीं लेता। "हमारे गाँव' के रूप में ही हम उस गाँव को जानते हैं। अर्थात् वह आन्ध्र का कोई भी गाँव हो सकता है। आन्ध्र का ही नहीं, भारत का कोई गाँव हो सकता है।

इस उपन्यास की विशिष्टताओं में पात्रों का अन्तःसंघर्ष प्रधान है। प्रधान पात्र पुल्लय्या में तो इस अन्तःसंघर्ष की चरमसीमा है।

एक झूठ का मानव के जीवन में कितना मूल्य होता है, उसे यह उपन्यास विस्तार से सूचित करता है। एक झूठ को सत्य करने के लिए भी झूठ बोलना, यह झूठ ही नहीं, सत्य है, ऐसा कह आत्म प्रवंचना कर लेना, तदनुसार मानव में आने वाले परिवर्तन, इन सबका लेखक ने बड़े सुन्दर ढंग से और कुशलता से वर्णन किया है।

इसी के बारे में लेखक ने अपनी प्रस्तावना में लिखा है। यह बोजर नामक पाश्चात्य लेखक के (एक झूठ का महत्त्व) नामक रचना से अनुप्रेरित हो कर लिखा गया है। लेखक के शब्दों में "वह रचना इस देश की नहीं है, आज की नहीं है। पर, उस रचना का यह न तो अनुवाद है न अनुकरण ही।" जो भी हो, कथावस्तु का मूल आधार तो वही है।

उदाहरण के लिए प्रथम अध्याय में शेखरम् के लिए जमानत रहने की बात का स्मरण कर, पुल्लय्या अपनी ग़लती के लिए पछताता है। दूसरे अध्याय में—ग़लती से हो या नींद की खुमारी में हो—अपनी बेटी से कहता है कि ऐसा काम ही नहीं किया। तब से ले कर पुल्लय्या अपने आपको धोखा देने में सीढ़ी दर सीढ़ी बढ़ता जाता है। धीरे-धीरे यह भावना इतनी प्रबल हो उठती है कि उसे लगता है कि शेखरम् ने ही अपने कारनामे के कारण मुकद्मा

चलाने को उसे बाध्य किया है। इस आत्म-प्रवंचना की पराकाष्ठा तो उपन्यास के अन्तिम वाक्यों में स्पष्ट हो जाती है। लक्ष्मम्मा पति के सम्मान से प्रसन्न हो कर कहती है कि 'धर्म ही जीतता है।' तब पुल्लय्या कहता है कि "हाँ हाँ, धर्म और सत्य के अतिरिक्त और किसकी जीत होती है ?" लक्ष्मम्मा के पक्ष में वह तो सच्ची धारणा है। किन्तु पुल्लय्या की आत्म-प्रवंचना की यह व्यंग्य प्रधान व्याख्या है। उस व्याख्या की पराकाष्ठा तो उपन्यास के अन्त में सत्यनारायण द्वारा गाया गया श्लोक है।

"धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।"

—6—

इस व्याख्या के साथ उपन्यास को समाप्त कर लेखक ने परोक्ष रूप से इस ओर संकेत किया है कि आजकल संसार में किस प्रकार धर्म और सत्य का दमन हो रहा है। इसी भाव को लेखक ने एक जगह डा० राव के द्वारा विशद और तीखे ढंग से कहलवाया है।

"यह कैसा विश्वास है कि संसार में किसी न किसी दिन धर्म की ही जीत होगी ? नहीं, नहीं। यह तो अन्धविश्वास है। मात्र बल की विजय होगी। वह बल या तो देह बल हो सकता है या धन बल या संघ बल, पर धर्म बल तो कदापि नहीं।"

इतने व्यंग्य प्रधान और निराशापूर्ण परिस्थितियों का चित्रण करते हुए भी लेखक ने युवक पीढ़ी के प्रति अपनी बलवती आशा को प्रदर्शित किया है। इस युवा पीढ़ी के प्रतिनिधि हैं मल्लय्या का पुत्र तथा पुल्लय्या का पुत्र। इन दोनों में भी काफ़ी अन्तर है। मल्लय्या का पुत्र अपढ़ है। रामाराव पढ़ा-लिखा है। मल्लय्या का पुत्र जोशीले स्वभाव का है। रामाराव प्रत्येक कार्य को गहराई से सोचे बिना नहीं करता। लेकिन इतना होते हुए भी दोनों एक विषय में समान है। अन्याय को दोनों सह नहीं सकते। कलुषता को किसी भी तरह निकाल दूर कर, उसकी जगह अच्छाई की स्थापना करने की इच्छा वाले हैं। इसीलिए अच्छाई के प्रतिनिधि डाक्टर साहब के उस गाँव को छोड़ जाने का निश्चय करने पर दोनों के मन में वेदना तथा क्रोध उत्पन्न होता है। किन्तु डाक्टर राव ने मल्लय्या के पुत्र को जो सलाह दी, उसे आज की युवा पीढ़ी को लेखक की सलाह के रूप में माना जा सकता है।

"सत्य की खोज तथा स्वतन्त्रता की प्राप्ति ये दो ही मुख्य लक्ष्य हों। जिस दिन इन दोनों का अन्त होगा, उस दिन मानव, मानव नहीं, पशु बन जाएगा।"

कुछ प्रमुख उपन्यास–10

चिवरकु मिगिलेदि

श्री राटकोंडा एस. सुदर्शनम्

श्री बुच्चिबाबू की रचना 'चिवरकु मिगिलेदि' (अन्त में क्या बचा ?) आन्ध्र का प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक उपन्यास है। जीवन की गम्भीरतापूर्ण आलोचना तथा मानवता की परीक्षा कर के उसे स्वीकार करना ही जीवन का प्रधान लक्षण है। सामाजिक भेदभावों से अतीत, मानव को स्नेहपाश में बाँध देने वाली मानवता की शक्तियों का यदि गम्भीरता से अनुशीलन करें तो मानव अवश्य ही उत्कट सन्तोष का अनुभव कर सकता है।

इस उपन्यास में उपलब्ध होने वाला जीवनदर्शन लेखक की प्रतिभा का, उसके वैयक्तिक अनुभूति की विशिष्टता का और उस अनुभूति को कलात्मक रूप में परिणत कर सकने के रचना-शिल्प का समुज्ज्वल प्रमाण है।

समस्त समकालीन साहित्य आधुनिक साहित्य नहीं कहलाता। 1940 से पूर्व तेलुगु के आधुनिक साहित्य में 'काल्पनिकता' (रोमांटिसिज़म) आधुनिकता का प्रधान लक्षण माना गया है। वर्डसवर्थ, कीटस्, शेली आदि कवियों का प्रभाव तेलुगु की कविता पर और स्काट, डिकेन्स, थाकरे आदि उपन्याकारों का प्रभाव तेलुगु के उपन्यासों पर विस्तार से पड़ा है। 'रोमांटिस्जिम' की परिधियों को पार करने का प्रयत्न कर विभिन्न रचना मार्गों को खोजने वाले तथा प्रतिक्रिया में मौलिकता प्रदर्शित करने वाले लेखक भी हुए हैं। किन्तु उनके दृष्टिकोण को भी प्रधानतया रोमांटिक दृष्टिकोण ही कहना चाहिए। 'प्रेम' के स्थान पर 'भूख' को वस्तु बना कर, छन्द और परम्परा को छोड़ने वाले (अभ्युदय) प्रगतिवादी कवि ने भी अपने दृष्टिकोण से आवेश और भावना प्रधान कल्पना लोक की—जो मार्क्स का आदर्श लोक ही हो मकता है—सृष्टि कर ली। उसी प्रकार आंग्ल साहित्य के वैयक्तिक आदर्शों की जगह भारतीयता और आध्यात्मिकता की खोज करने वाले श्री विश्वनाथ सत्यनारायण जैसे उपन्यासकार ने भी 'रोमांटिस्जिम' के प्रधान लक्षण, विषयनिष्ठता का उल्लंघन कर, अपनी इच्छा के अनुसार, अपनी परिचित भारतीयता, ज़मींदारी व्यवस्था, और उस युग के जीवन-विधान को ही आध्यात्मिकता की पराकाष्ठा मान ली! कहानीकार चलम् ने स्त्री के लिए मात्र स्वेच्छा, अर्थात् सेक्स के क्षेत्र में स्त्री और पुरुष की स्वेच्छा को स्वीकार कर, व्यवहार के साध्य-असाध्य की परवाह किये बिना रोमांटिक ढंग से विवाह-विधान पर आक्रमण किया था। रोमांटिस्जिम मानव-स्वभाव की रमणीय तथा उत्कृष्ट प्रवृत्ति हो सकती है, पर वह समग्र दृष्टिकोण तथा जीवन-सत्य का पर्याय नहीं हो सकता! यही कारण है कि अंग्रेज़ी-साहित्य में प्रथम महायुद्ध के बाद रोमांटिस्जिम के विरुद्ध जो भाव विप्लव आया था, वह तेलुगु साहित्य में 19 0 के बाद आए बिना नहीं रह सका।

1940 के पूर्व तेलुगु उपन्यास में आयी 'आधुनिकता' का लक्षण यह है—कविता के लक्षणों का उपन्यास पर आरोपित कर 'काव्य-उपन्यास' का अवतरण करना। वर्णनों में काव्य-शैली का होना, इस प्रक्रिया का प्रधान लक्षण नहीं है। उपन्यास के प्रधान अंग चरित्र-चित्रण, कथावस्तु, मार्मिकता आदि में प्रतीक पद्धति, ध्वनि आदि मूर्तिमान हुई हैं। श्री विश्वनाथ सत्यनारायण का 'सहस्र फन', श्री गुडिपाटि वेंकट चलम् का 'अमीना', 'अरुणा' आदि इस प्रकार के उपन्यास हैं। यह अंग्रेज़ी में डी० एच० लारेन्स, ई० यम० फार्स्टर आदि द्वारा निरूपित 'काव्य-उपन्यास' जैसी प्रक्रिया है।

1940 के बाद रोमांटिस्जिम की अवनति शुरू हुई। उसके कारणों की खोज करना यहाँ संगत नहीं है। 1940 के बाद गोपीचन्द का 'असमर्थ की जीवन-यात्रा' तेलुगु उपन्यास में नवीनता का निरूपण करने वाली रचना है। हेतुवाद और समाज विकास सिद्धान्त का मानवतावाद की दृष्टि से सूक्ष्म अनुशीलन तथा आलोचना करने वाले इस उपन्यास की एक और विशिष्टता मनोविश्लेषणात्मक पद्धति है। यह बुद्धि प्रधान आधुनिक उपन्यास है। इस उपन्यास की तुलना आल्डस हक्सले के उपन्यासों से की जा सकती है।

इसी दशक में (1940-50) तेलुगु उपन्यास की 'आधुनिकता' की एक नयी पंखुड़ी खुली। श्री राचकोंडा विश्वनाथ शास्त्री के 'अल्पजीवी' में आत्मगत स्वगत को ही प्रधानता दी गयी है। उपन्यास का प्रारम्भ जीवन को नये ढंग से देखने के लिए किया गया है, रोमांटिक तथा उदात्त रूप से नहीं, उससे भिन्न रूप से देखने के लिए और मानवता को यथातथ्य रूप मे स्वीकार करने के दृष्टिकोण से किया गया है। इस उपन्यास की पृष्ठभूमि अडलर नामक मनोवैज्ञानिक के मुख्य सिद्धान्तों में से एक 'आत्म न्यूनता भ्रान्ति' पर आधारित है। परन्तु उपन्यास का लक्ष्य या सन्देश उस सिद्धान्त का निरूपण नहीं है। उपन्यास ध्वनि प्रधान है, सन्देश तो लेखक की व्यक्तिगत दृष्टि से सम्बद्ध है, तात्त्विक है। 'अल्पजीवी' के साथ तेलुगु उपन्यास क्षेत्र में दूसरे मनोवैज्ञानिक उपन्यास का जन्म हुआ है।

बुच्चिबाबू की रचना 'चिवरकु मिगिलेदि' (अन्त में क्या बचा?) मनोवैज्ञानिक उपन्यास है। इसकी पृष्ठभूमि प्रख्यात मनोवैज्ञानिक सिग्मण्ड फ्रायड के मुख्य सिद्धान्तों में से एक 'ईडिपस भ्रान्ति' है। इस उपन्यास में सिद्धान्त निरूपण प्रधान नहीं है, जीवन की गम्भीरता से आलोचना करना और मानवता की परीक्षा कर के उसे स्वीकार करना ही प्रधान है। "आर्थिक,

सामाजिक, ऐतिहासिक भेदों से अतीत, मानव को स्नेहपाश में बाँध देने वाली मानवता की शक्तियों का यदि गम्भीरता से अनुशीलन करें तो मानव अवश्य ही उत्कट सन्तोष का अनुभव कर सकता हैं। किन्तु उस अनुभूति को शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकते...इस उपन्यास की नींव यही है।" (लेखक की भूमिका से) उपन्यास में मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त फूलों को एक सूत्र में गूँथने वाले धागे के समान अन्तर्लीन रूप में ही रहता है। यह कोई जरूरी नहीं कि पाठकों को मालूम हो कि वह सिद्धान्त ऐसा है। वह ऐसा निहित रहता है कि आलोचक के विश्लेपण करने पर ही दृष्टिगत होता है। लेखक द्वारा अभिव्यक्त जीवन-विधान का उससे तत्वतः कोई सम्बन्न नहीं रहता। मनोवैज्ञानिक उपन्यास का अर्थ किसी मनस्तत्व शास्त्र का अध्ययन कर, उसके अनुरूप सोच कर इतिवृत्त तथा पात्रों की कल्पना करना नहीं है। उपन्यास में उपलब्ध होने वाला जीवन दर्शन लेखक की प्रतिभा का, उसके वैयक्तिक अनुभूति की विशिष्टता का और उस अनुभूति को कलात्मक रूप में परिणत कर सकने के रचना-शिल्प का समुज्ज्वल प्रमाण प्रस्तुत करता है।

— 2 —

तेलुगु उपन्यास में मनोवैज्ञानिक उपन्यास के अवतरण के साथ 'रोमांटिस्जिम' का भण्डाफोड़ हो गया। इस दृष्टिकोण से देखेंगे, तो तेलुगु साहित्य के प्रगति पथ पर 'चिवरकु मिगिलेदि' (अन्त में क्या बचा ?) एक विशिष्ट रचना है। सूर्य के समक्ष दीपक जिस प्रकार कान्ति हीन हो जाता है, उसी प्रकार जीवन-सत्य के समक्ष भावात्मक प्रेम तथा आदर्श निरुपयोगी हो जाते हैं, यह उपन्यास इसी का चित्रण करता है। कथा नायक दयानिधि भावनाशील व्यक्ति है तथा सौन्दर्य-पिपासु है। किन्तु वह किसी स्त्री से प्रेम नहीं कर सकता। स्त्री के प्रति उसके मन में अत्यन्त कुतूहल है। विवाह के योग्य किसी भी युवती को देख कर उसमें अदम्य कामना पैदा होती है। पर उसे अपनी पत्नी के रूप में कल्पना करने के लिए मन में कोई अज्ञात बाधा है। अन्ततः उसके मन को आकृष्ट करने वाली युवती कोमली है, जो एक पतिता है। उसकी माँ पेशे से वेश्या है। कोमली न शिक्षित है न संस्कृत ही। प्रयत्न कर दयानिधि को आकृष्ट करने का चमत्कार या अनुभव भी उसमें नहीं हैं। फिर भी दयानिधि उसके इर्दगिर्द चक्कर काटता है। अवसर आने पर उसका भी उपभोग नहीं कर सकता। कारण—खोजना ही चाहिए ! उसकी समस्या तो यही है कि उसे स्वयं मालूम नहीं है कि मुझे क्या चाहिए ! जीवन के

प्रवाह में वह कर कोमली दयानिधि से दूर हो जाती है। वह भी उसके बारे में सोचना छोड़ देता है। ऐसा भूल जाना 'रोमांटिक हीरो' का काम नहीं है! दयानिधि की पहुँच में जो स्त्रियाँ हैं, उनमें उसके मामा की पुत्री 'सुशीला' एक है। वह पढ़ी-लिखी है। दयानिधि से शादी करना उसे पसन्द तो है, पर थोड़ा स्वाभिमान और थोड़ी-बहुत ईर्ष्या को व्यक्त करती है। "सुशीला वास्तव में किसी पुरुष से प्रेम नहीं कर सकती। सुशीला का प्रेम तो इस विचार से है कि कोई मुझसे प्रेम कर रहा है।" ऐसा निर्धारण कर, दयानिधि उसे ठुकरा देता है। सच्चा कारण तो यह है कि उसे सुशीला से भय है। उसे भय है कि सुशीला को मेरे और मेरे माता-पिता के प्रति आदर का भाव नहीं है। अन्त में वह पिता जी द्वारा निर्णीत कन्या को स्वीकार कर लेता है। इंदिरा उसकी पत्नी बन जाती है पर इंदिरा के प्रति उसे प्रेम नहीं है। ससुर से दुश्मनी मोल लेता है। अकेला बन जाता है। समाज से उसकी बनती नहीं।

अमृतम् विवाहिता है। दयानिधि के रिश्तेदारों में से है। दयानिधि के लिए उसका प्रेम (दुलार) स्वीकार योग्य लगता है। अकेलेपन से निरोह बने दयानिधि के पास वह यों ही रिश्तेदारिन के नाते आती है। उसकी सहानुभूति और ममता दयानिधि को पिघला देती है। पहली बार दयानिधि स्त्री का स्पर्श कर सकता है और अपने मानसिक अवरोध को पार कर सकता है। इस प्रकार दयानिधि के जीवन में अमृतम् प्रधान-पात्र का निर्वाह करती है। किन्तु अमृतम् को रोमांटिक नायिका नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह किसी दूसरे की पत्नी है। उसे दयानिधि के साथ भाग जाने की इच्छा भी नहीं है! दयानिधि को भी उस पर कोई विशेष कामना नहीं है। दयानिधि के प्रति अमृतम् जो भाव प्रदर्शित करती है, वह ऐसा है, जिसके बारे में स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता कि वह ममता है या दुलार है या स्नेह या परस्पर प्रेम—जिसमें समाज के लिए अस्वीकार्य सेक्स की आकांक्षा भी सम्मिलित है! अमृतम् यह नहीं चाहती कि दयानिधि अपने जीवन में भाग ले या 'अपना' बने! वह सामाजिक व्यवस्था, नियम और नीति की अनुगामिनी है, साधारण-सी घरवाली है, किन्तु उसकी मानवता और स्त्रीत्व इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। उसे किसी भी रोमांटिक परिभाषा मे बाँधा नहीं जा सकता, शासित नहीं किया जा सकता! अमृतम् प्रकृति जैसी अनिर्वचनीय है।

अमृतम् पिंजड़े के किवाड़ खोलती है। दयानिधि झट से दुनिया में उड़ जाता है। वह सोच लेता है कि नयी जगह, नये मनुष्यों के बीच जीवन को नये ढंग से शुरू कर, अपने आदर्शों के अनुरूप आचरण करूँ। दैव भी उसके अनुकूल बन जाता है। 'रायल सीमा' में अनन्ताचार्य का आश्रय ही नहीं, 'कात्यायनी' नामक हीरा भी मिलता है। वह हीरों की खानें खुदवाने लगता है। डाक्टर के रूप में जन सेवा करने के लिए कमर कस लेता है। किन्तु उसका अतीत-जीवन उसका पीछा करता है—धनवानों के हाथों में पली-छली कोमली अन्त में दयानिधि के पास आ ठहरती है। वह इसलिए नहीं आती कि दयानिधि धनवान बन गया है, पर इसलिए कि प्रारम्भ से ही उससे प्रेम किया है! 'प्रेम' है क्या ? यह जिज्ञासा यहाँ अपनी पराकाष्ठा को पहुँच चुकी है। आवश्यकतावश कोमली कोई झूठ नहीं बोल रही थी। कोमली सच्ची बात ही कह रही थी। जीवन में सब कुछ देख चुकने पर, ऊब कर, अन्त में कोमली दयानिधि को ही चाह रही है। कोमली किस प्रकार की कथानायिका है ? शारीरिक रूप से दयानिधि उससे नफ़रत करता है। उससे दूर रहता है। पर मानसिक रूप से उसे इनकार नहीं कर सकता, उससे चले जाने के लिए नहीं कहता। उसमे किसी प्रकार के आकर्षण के न होने पर भी, उसके साथ निर्दयता का, लापरवाही का व्यवहार नहीं कर सकता, उसके प्रति दयानिधि का भाव दया, अनुकम्पा, करुणा कुछ भी नहीं—वह अतीत जीवन की ऐसी अनुभूति है, जिससे वह पीछा नहीं छुड़ा सकता। वह चाहे न चाहे वह उसके साथ रहने वाला सत्य है। उसके साथ बात-चीत, आत्म-विमर्श के समान लगता है। एक प्रकार से देखा जाए तो कोमली शरीर है, तो वह आत्मा है। "इधर देखो कोमली! मुझे अब तक मालूम नहीं हुआ कि प्रेम क्या है ? सबके समान शारीरिक इच्छा को ही प्रेम मान कर, मैं अपने आपको धोखा नहीं दे सकता। मेरा प्रेम ऐसा है, जिसे मैं किसी से, किसी से भी बाँट नहीं सकता। वह एक दृष्टिकोण है—समग्र जीवन को आदि-अन्त, आगे-पीछे, सबको दूर से देख कर समझने वाले संसार पर एक दृष्टि है—तुम्हारे साथ स्नेह करने से वह दृष्टि मिट जाती है— ।" कोमली जवाब देती है : "हम एक-दूसरे को तन्मय करते है—तब एक प्रकार का धैर्य, बल और आनन्द बना रहता है। उस समय कई अच्छे काम करते है... . ..."। यह द्वैधी भाव (आत्म और शरीर भिन्न-भिन्न हैं) और उसकी चुनौती (वे दोनों परस्पर आवश्यक हैं और हैं भी एक) अन्त तक अर्थात् उपन्यास के अन्त तक बनी रहती है। कोमली का आगमन और दयानिधि की पूर्व कथा कई भ्रामक

विचारों को अवसर देती है। द्वेष के रूप में प्रज्ज्वलित होती है! मज़दूर-विप्लव कर दयानिधि क़ी खानों तथा घर को ध्वस्त कर देते हैं। दयानिधि के बनाये मातृ-शिल्प के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। कोमली घायल हो जाती है। "निरा-श्रय बना दयानिधि कोमली को साथ लिये और किसी नये स्थान और नये जीवन की खोज करता हुआ निकल पड़ता है। निकलते हुए प्रश्न कर लेता है "अन्त में क्या बचा है?" अपने आपसे समाधान कर लेना, "यही बचा है।" उसके इस जवाब के साथ उपन्यास समाप्त हो जाता है।

दयानिधि, अमृतम्, कोमली—ये पात्र रोमांटिस्जिम में ढली हुई प्रतिमाएँ नहीं है। इनकी कथा में 'प्रेम' भी पूर्व के रोमांटिक साहित्य में सुस्थिर बन सिनेमाओं में स्थान पा, आज के युवती-युवकों के मुख से नित्य सुनाई पड़ने वाला वह शब्द नहीं है। इस उपन्यास में दयानिधि की देश-सेवा की आसक्ति, समाज के उद्धार करने की आकांक्षा, समाज-कल्याण के कार्यक्रम आदि सब ऐसे लगते है मानो उसके अपने आत्मसंक्षोभ तथा अन्तर की सम-स्याओं से पलायन करने के मार्ग हों। अर्थात् व्यंग्य यह है कि जो व्यक्ति स्वयं अपने साथ समाधान प्राप्त नहीं कर सकता, वह औरों के साथ कभी और कहीं भी समाधान प्राप्त नहीं कर सकता।

— 3 —

प्रश्न है कि दयानिधि को किस समस्या का सामना करना पड़ा है? इस उपन्यास में दयानिधि की माता का चित्रण नहीं हुआ है। आमुख में लेखक ने लिखा है कि "उस (माता) के किए दुराचार का परिणाम, छाया के समान उसका पीछा कर, सामाजिक आलोचना द्वारा, उसके जीवन को कलुषित करता है।" माता की मृत्यु और उस समय दयानिधि का कोमली के घर का चक्कर लगाते रहना—यहीं से उपन्यास का प्रारम्भ होता है। उपन्यास के इन दो प्रधान विषयों के साथ उपन्यास की कथावस्तु सीधे शुरू होती है। किसी के सूच्य रूप में ही सही माता के आचरण की टीका-टिप्पणी करने पर दयानिधि में आने वाले परिवर्तन और कहने वाले व्यक्ति पर उसके द्वेष (वाच्य रूप से नहीं, क्रिया रूप से ही) आदि के आधार से पाठक यह समझ सकते हैं कि दयानिधि के लिए माता कितनी आराध्या है। माता उसकी आराध्य देवता है, बस, उसने कभी मन में अपनी माता के शील के बारे में सोचा-विचारा तक नहीं। अन्य युवतियों पर न होने वाली आकांक्षा उसे कोमली पर ही क्यों हो, माथा-पच्ची करने पर भी उसकी समझ में नहीं

आता। हो सकता है कि उसका चरित्र ही इसका कारण हो, पर दयानिधि कभी ऐसा नहीं सोचता। दयानिधि की समस्या मानसिक है। उसकी समस्या में तथा हैमलेट ने जिस समस्या का सामना किया था, उस समस्या में साम्य है। इस विषद को जान कर आमुख में लेखक ने उल्लेख किया है और यही नहीं, उपन्यास के प्रथम संस्करण में लेखक ने यह भी वर्णन किया है कि दयानिधि हैमलेट के बारे में बड़ा लेख लिख कर, उसके द्वारा अपनी समस्या को मानों कुछ सीमा तक समझ लेता है। (दूसरे संस्करण में ये वर्णन हटा दिये गये हैं।) दयानिधि की चेतना में सुप्रतिष्ठित मातृ-मूर्ति ही उसकी समस्या का कारण है। एक ओर वह प्रेम, ममता, आदर—स्त्रीत्व के अमृतत्त्व और आकर्षण का प्रतीक है, दूसरी ओर समाज के लिए अस्वीकार्य स्वेच्छा-विहार तथा नैतिक व्यतिक्रम का भी प्रतीक है। यह एक तथ्य है कि स्त्री को आराध्य देवता मानने वाला व्यक्ति संसार की सभी स्त्रियों में उसी मातृमूर्ति को खोजता रहता है। यह एक अज्ञात प्रेरणा है। इसलिए दयानिधि कोमली के चारों ओर चक्कर काटता है। उसका स्वेच्छापूर्ण आचरण उसे आकर्पित करता है, पर उससे ममता या आदर नहीं मिलते! (क्योंकि उसके योग्य व्यक्तित्व उसमें नहीं है।) आदर और ममता से वंचित दयानिधि क्रमशः समाज से उसका बदला लेने लग जाता है। उसका विवाह तथा पत्नी के प्रति प्रदर्शित लापरवाही इसके प्रमाण हैं। दयानिधि की तुलना हैमलेट से करें तो एक अन्तर दिखाई पड़ता है। अपनी माता के चरित्र और आचरण के कारण हैमलेट समग्र स्त्री संसार को और शीलवती ओफ़ीलिया को भी 'फ्रेइलिटी, दाइ नेम इज वुमेन'[1] कह कर तिरस्कृत कर देता है। ममता तथा आदर को प्रधानता न दे कर, आदर्शों को ही प्राधान्य देने वाले रोमांटिक हीरों का चरित्र है वह! (हैमलेट अथवा दयानिधि के सामने दो ही मार्ग हैं, माता को पूर्णरूपेण स्वीकार करना या पूर्णरूपेण अस्वीकार कर देना। दयानिधि स्वीकार करता है, उसे समाज का सामना करना पड़ता है। हैमलेट स्वीकार नहीं करता और समाज में आदर्श पुरुष बनने का दायित्त्व उसके कंधों पर पड़ता है। दोनों के लिए पराजय तो अनिवार्य है।) दयानिधि रोमांटिक हीरो नहीं है। वह ममता और आदर को ही जीवन के प्रधान मूल्य मान कर, उन पर आधारित रहने वाला साधारण मानव है। इसलिए वह मानसिक रूप से समाज के साथ, समाज के नियमों तथा विचारों के साथ संघर्ष करता है। वह समाज के आदर तथा प्रेम को चाहे बिना नहीं रह सकता। वे उसे मिलते नहीं। लेखक ने स्वयं लिखा है, "जीवन में सच्चा विषाद, द्वेष करना नहीं है; सच्चा विषाद तो प्रेम न कर सकना है...!"

1. Fraility, thy name is woman.

"मेरे लिए तर होने वाली आँखें नहीं है। इसकी अपेक्षा अधिक विषादमय गीति और क्या हो सकती है। इस समस्या ने मुझे पीडित किया है।"...... व्यक्तिगत विमुक्ति ही इस उपन्यास का प्रेरणास्रोत है। यहाँ इस बात को समझ लेना चाहिए कि प्रेम न कर सकना किसी एक का दोष नहीं है। अपनी माता के चरित्र के कारण, अपनी 'चेतना' में उसके तादात्म्य के कारण दयानिधि समाज का समर्थन नहीं कर सकता, इसी कारण उसे अपमान की दृष्टि से देखने वाला समाज भी उसे आदर नहीं दे सकता। फिर इस समस्या का हल कहाँ? "मानव तथा मानव को स्नेहपाश में बाँधने वाली मानवता की शक्तियों का अन्वेषण करना......" "आत्मवत् सर्वभूतानि"। "आत्म तत्त्व" आदर्शों-विचारों तथा नाम-रूपों से अतीत है, इस 'आत्मज्ञान' की उपलब्धि के लिए व्यक्ति जब अन्वेषण करे, तभी अपने आपसे समाधान प्राप्त कर, सर्व प्राणियों से--सर्वभूतों से—समाधान प्राप्त कर सकता है। अर्थात् 'चेतन' में सुस्थिर रूप से अवस्थित मातृ देवता का विग्रह चकनाचूर हो कर, उसमें निहित दैवतत्त्व का नामरूप रहित चित् शक्ति के रूप में दर्शन देना चाहिए। इस उपन्यास के अन्त में यही हुआ है।

दयानिधि के 'चेतन' की मातृमूर्ति का रूप उसे इस संसार भर में अमृतम् में ही दिखाई पड़ता है। अमृतम् में माता और पत्नी—इन दोनों भावों का समन्वय हुआ है। उसमें ममता (दयानिधि के लिए) और नैतिक व्यक्तिक्रम दोनों मिल कर एक हो गये हैं। लोक के साथ समाधान प्राप्त कर लोक में रहते हुए दयानिधि को प्रेमामृत दिला सकने वाली उस स्त्री के लिए कोई मानसिक संघर्ष नहीं है। 'अपराध' करना क्या है, उसे इसका ज्ञान तक नहीं, बस उसे एक ही बात मालूम है और वह है प्रेम करना! दयानिधि समझ लेता है कि वह प्रकृति स्वरूपिणी है। उसका ध्येय ही मातृत्व है। दयानिधि को उसने पुनर्जन्म का वरदान दिया है। उसके कारण ही दयानिधि को लोक के साथ पुनः सच्चा सम्बन्ध तथा जीवन पर आसक्ति की भावना उत्पन्न हुई हैं।

मानव-समाज मानव निर्मित है। चाहने पर भी सामाजिक प्राणी बना मानव प्रकृति की ओर अर्थात् पीछे की ओर नहीं चल सकता। अतीत जीवन के भार को कंधों पर ढोते हुए उसे आगे बढ़ते जाना चाहिए। उस जीवन का प्रतीक कोमली है। "कई काँटों ने, कई कीड़ों ने उस शरीर को मैला किया है—यहाँ आत्मा ऐसे सो रही है, जैसे कुछ जानती ही न हो......उसकी इच्छाएँ, कुंठित वासनाएँ, यथार्थ न बनने वाले सपने, कार्यान्वित न हो

सकने वाले आदर्श, अन्तरंग—सब कोमली बन कर सो रहे हैं। उसको मार डालें तो वह हत्या नहीं, आत्म-हत्या होगी..." इसीलिए उपन्यास के अन्त में ऐसा वर्णन है "खानें भर दी गयीं। वज्र के द्वारा आयी श्री सम्पत्ति (प्रकृति का वरदान) सब कुछ नष्ट हो गयी। बन्धन टूट गये।.. माता की प्रस्तर मूर्ति टूट कर गिर गयी—उसके केवल चरण बच गये, 'उफ़' उसके मुँह से निकल पड़ा। अब उसे परिपूर्ण स्वतन्त्रता है..." किन्तु कोमली के हाथ को कंधे पर डाल कर चलने लगता है।...सब कुछ अन्धकार है... ऊपर और नीचे सब कहीं नक्षत्र हैं। अपनी श्री सम्पत्ति, कात्यायनी—सबने करोड़ों वज्र बन कर आकाश को अलंकृत किया है...जग में अन्धकार और विश्व भर नक्षत्र हैं। उनमें से एक छोटा-सा नक्षत्र सृष्टि के समान विकसित हो कर, संसार भर में व्याप्त हो गया। सब कुछ अपना ही है। पर, हाथ बढ़ाने पर कोई भी नहीं मिलता, सब कुछ अपने ही हैं, पर मुख खोल कर बुलाने पर कोई जवाब नही देता।" यह हुआ मानव के अकेलेपन के बारे में।" दो पहाड़ों के बीच में से चल कर उस पार पहुँचे।" यह हुआ द्वन्द्वभाव को पार करना। कोमली घास पर गिर लेट गयी। और कहा, 'अब मुझ से चला नहीं जाता भई! यहीं लेट जाएँगे।"—यह जीवन में अन्वेषण का समाप्त हो जाना है। अब "अन्त में क्या बचा?...प्रेम? धन? कीर्ति? कुछ भी नहीं...। अन्त में बचा वह स्वयम्!.. अपने आपको सम्पूर्ण रूप से देख लिया ... अपनेसे समाधान प्राप्त कर, अपने आपको स्वीकार कर, आलिंगित कर एक हो गया।.. इस जीवन का अर्थ ही क्यों हो! अर्थ नहीं है, ऐसा समझने में निरुत्साह या पीडा नहीं है। नया बल, विकास, आत्म विश्वास, दृढ़ निश्चय बने रहते हैं...मानव को धर्म, देवी-देवता, मनौतियाँ या राजनीति नहीं चाहिए। मानव को चाहिए दया—थोड़ी भी सही..." यह आत्म-ज्ञान है। पलकें खोल सफ़ेद रोशनी आकाश में ज़बान फैला कर रेंग रही है। नक्षत्रों को अपनी गोद में लेकर अपने में मिला ले रही है, वह रोशनी"—यह है 'आत्मवत् सर्व भूतानि' भाव। "कोमली के साथ और कहीं, नया जीवन शुरू करना चाहिए।... संसार के सारे प्रेम को अपने में छिपा कर, भोली-भाली लेटी है कोमली।" प्रेम से दीप्त हो कर, दुनिया के साथ नये सम्बन्ध जोड़ने की आकांक्षा रखने वाले दयानिधि की आत्मा ही कोमली है।" देह अनुभव के बाद आत्मा बन गयी है।

— 4 —

कोमली में मानवात्मा, व्यक्ति का जीवन एवं मानव का इतिहास प्रतिभासित होते हैं। मानव अपनी सहज प्राकृतिक आत्मा से घृणा कर, आदर्शों का

अन्वेषण करता है। सामाजिक जीवन के तथा आदर्शों के चौखट (फ्रेम) में उसकी सहज प्रकृति पिस जाती है, कलुषित हो जाती है। रूप के बदलने पर भी वही उसके पास लौट आती है। उस प्रकृति के लिए नाश नहीं है। यह व्यक्ति का जीवन है। इतिहास के अध्ययन से भी लगता है कि मानव की सभ्यता, संस्कार सब कुछ मानवता की स्वीकृति के लिए ही हैं ! अमृतम् के पास से रु. 50 क़र्ज़ ले कर, उन्हें कोमली के सिरहाने रख कर, दयानिधि उससे दूर हो जाता है। सोचने पर मालूम होता है कि यह कितनी भावगर्भित घटना है। सामाजिक व्यवस्था और सभ्यता तो धन पर आधारित हैं—उस धन को भी मानव ने प्रकृति से ही क़र्ज़ लिया है ! उस धन के प्रभाव से कोमली कुछ समय तक दास्यवृत्ति करती है, पिसती है, कलुषित हो जाती है। जिस रात को दयानिधि ने अमृतम् का उपभोग किया, उसी रात को दयानिधि का अमृतम् की पेटी से रक़म ले कर, नये जीवन की खोज में निकल जाना भी अर्थ-स्फूर्ति से युक्त घटना है। प्रकृति के स्वरूप का साक्षात्कार कर लेने वाले मानव के आत्मज्ञान का प्रयत्न है वह। उसके बाद दयानिधि अमृतम् की रक़म वापस भेज देता है : यह एक और मोड़ है। उस समय उसकी पत्नी मर जाती है—व्यवस्था के निर्मित बन्धनों से विमुक्ति है यह ! अमृतम् की सन्तान को देखता है—प्रकृति के ध्येय की पूर्ति हुई है। कोमली लौट आती है—मानव में आत्मचिन्तन शुरू हो जाता है। इसका पर्यवसान लोक तथा लौकिक जीवन सब कुछ के दग्ध हो जाने में है—यह मानव का आत्म साक्षात्कार है। इस प्रकार से व्याख्या करें तो उपन्यास में दयानिधि, अमृतम्, कोमली के बीच घटित कथा का प्रत्येक अंश अर्थस्फूर्ति के साथ उपन्यास के समग्र स्वरूप का सहयोगी दीखता है। यह पाठक तथा आलोचक की कल्पना-शीलता तथा चित्तसंस्कार पर आधारित विषय है।

— 5 —

फ्रायड़ के सिद्धान्त की दृष्टि से देखें तो दयानिधि का न्यूरोसिस उपन्यास में सुष्ठु रूप से परिपुष्ट हुआ है। दयानिधि की सेक्स-भावना के मातृ-मूर्ति से जुड़े रहने से वह शारीरिक रूप से स्त्री को प्राप्त करने में अशक्त है। इस अशक्तता को छिपाने के लिए उसके किये प्रयत्नों का परिणाम ही मानो यह था कि अपने निकट आयी प्रत्येक युवती मे स्नेह तथा प्रेम का व्यवहार कर उसके मन में भ्रम पैदा करना। समाज में उसकी निन्दा हुई, होहल्ला हुआ तो वह एक प्रकार से उसका अपना स्वयंकृत अपराध ही है। पत्नी को छोड़

कर अकेले रहते हुए मित्र की बहन श्यामला को अपने घर में मानसिक बीमारी के इलाज के लिए रख लेना—ऐसे व्यक्ति का काम नहीं है, जिसे न्यूरोसिस न हो एवं लौकिक ज्ञान हो। "उसका चरित्र ही ठीक नहीं है ..दूसरों का इलाज करने का अधिकार उसे डिग्री द्वारा प्राप्त है। पर, शायद नैतिक रूप से उसे वह अधिकार नहीं है।" ऐसा उसे स्वय महसूस होता है। इसीलिए उसे क्रमशः न्यूरोसिस से विमुक्ति सुलभ हुई। सुहागरात के दिन ही शाम को राजनीतिक सभा में भाषण दे कर गिरफ़्तार हो जाना—उससे पूर्व कभी राजनीति से सम्बन्ध न रखने वाले का ऐसा व्यवहार करना—'न्यूरोसिक' के व्यवहार का सुन्दर उदाहरण है। जब भी स्त्री के साथ शारीरिक सम्बन्ध का अवसर आया, तब-तब उसमें उत्पन्न उद्विग्नता, भय, घबराहट उसके न्यूरोसिस को प्रमाणित करते हैं। सोती हुई कोमली को देखते खड़े रहने पर "कोई शक्ति उसमें प्रविष्ट हो कर उसे निष्क्रिय बना देती है।......। मानो देह ने उससे कहा कि यह अन्याय है, मै यह काम नहीं कर सकती। मैं ही सौन्दर्य हूं, मैं स्वय अपना नाश नहीं कर सकती। दूसरों का भी नाश नहीं कर सकती। मुझे छोड़ दो।" यह तो भ्रम है कि शारीरिक सम्पर्क सौन्दर्य का नाश कर देता है ! पत्नी से सुहागरात के समय मिलने से बचने के लिए राजनीतिक सभा में गिरफ़्तार होने के लिए जो भाषण दिया, उसका विषय था, स्वेच्छा और स्वातन्त्र्य ! कहा कि विवाह गुलामी है ! श्यामला के न्यूरोसिस को समझने के लिए किये प्रयत्न द्वारा, हैम्लेट नाटक को पढ़ कर व्याख्या करने के प्रयत्न द्वारा स्वयं अपनी समस्या का परिशीलन-अनुशीलन कर, क्रमशः मानसिक आरोग्य को प्राप्त करने वाले दयानिधि को अमृतम् के साथ संप्राप्त एकान्त अन्त में उसे परिपूर्ण मक्ति प्रदान करता है। उसके बाद दयानिधि ने जिस समस्या का सामना किया वह तात्त्विक है। मनस्तत्व वेत्ताओं का कथन है कि न्यूरोसिस से छुटकारा पाते ही यह नहीं समझना चाहिए कि जीवन की सभी समस्याएँ हल हो जाती है। दयानिधि आत्मपरिशीलन द्वारा स्वयं अपनी न्यूरोसिस का इलाज कर सकने वाला प्रज्ञाशाली और सौभाग्यशाली है ! इसीलिए उसका अन्वेषण आत्मज्ञान और आत्मसाक्षात्कार में पर्यवसित हुआ।

— 6—

इस देश में आदर्श और आचरण में गहरी खाई है। शुष्क वेदान्त का रट लगाना, गीता का पारायण करना, काषाय वस्त्र पहन कर 'स्वामी जी' के

नाम से समाज में आध्यात्मिका के प्रतिनिधि के रूप में प्रसिद्ध होना आदि सभी विषयों पर इस उपन्यास में आलोचना की गयी है। सच्चे आध्यात्मिक मूल्यों का मंथन कर उन्हें निरूपित करने वाली इससे बढ़ कर कोई दूसरी आख्यायिका नहीं हो सकती। दयानिधि कहता है कि "अपने आचरण को समुचित प्रमाणित कर, समाधान की प्राप्ति के लिए मानव जो प्रयत्न करता है, वही उसका निज स्वरूप है।" यहाँ "श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः, परधर्मात् स्वानुष्ठितात्, स्वभाव-नियतं कर्म कुर्वन नाऽप्नोति किल्विषम्" वाले गीता श्लोक का स्मरण हो आता है।

व्यक्ति और समाज में उत्पन्न होने वाले संघर्ष का चित्रण करने में भी उपर्युक्त श्लोक का अर्थ ही इस उपन्यास में प्रतिभासित हुआ है। "आज हमारे समाज की स्वीकृत नीति का प्रतिपादन करने वाले तो किसी विचित्र और अतीत वातावरण में हैं। यह नीति कुछ धार्मिक सिद्धान्तों और समाज से नाता तोड़ देने वाले कुछ ऋषियों के वेदान्त दर्शन पर आधारित है। मुझमें यह साहस नहीं है कि मैं इसे दोष कहूँ। मैं यह कह सकता हूँ कि यह हमें जँचता नहीं। उसका कारण है, इस नीति को आचरण मे रख न सकने की हमारी दुर्बलता है.. हमारे समाज में व्यक्ति आलसी बन कर, जो प्राप्त हुआ उसी से तृप्त हो कर. मोक्ष का नाम ले कर, इस संसार और जीवन को एक बीमारी अथवा दुस्स्वप्न मान कर, जैसा भी हो दिन बिता रहे हैं। . हम तो आध्यात्मिक मूल्य और वेदान्त का नाम ले कर, 'मानव' की बात भूल जा रहे है .."अच्छाई का अर्थ क्या पकड़ में न आने वाली बुराई ही है?"..."हम जो करते हैं, वह हमें जँचना चाहिए। यह प्रधान है कि हम स्थिर कर लें कि वह अच्छा है। दूसरों की आँखों द्वारा देख कर, उसका मूल्य आँक कर, किसी धर्म का खंडन करना नैतिक रूप से भीरुता "अपने जीवन को बिगाड़ कर कोई व्यक्ति दूसरों को सुधारने का प्रयत्न करे तो सभी झगड़े ही हैं। अपने जीवन को सुधारने वाले व्यक्ति के लिए दूसरों से कोई वास्ता ही नहीं।" ...'समाज को बदल नहीं सकता। मनुष्यों को बदल नहीं सकता। बदलने पर कष्ट, दुश्मनी और युद्ध। स्वयं अपने से समाधान प्राप्त करना चाहिए। उसे आज प्राप्त किया है। एक प्रकार की प्रशान्तता, पवित्र और महत्तर आनन्द ...वह बाह्य संसार में नहीं है...पगली दुनिया को दया से दूर रखने का औदार्य, धर्म, भगवान् और मनुष्यों को दूर हटा कर संतृप्त होने वाली आध्यात्मिक दृष्टि ही अपने में अन्तिम यथार्थ है।"

फ्रायड, रसेल, मार्क्स, कर्कगार्ड—आदि के विचारों से प्रभाविन, पाश्चात्य संस्कृति की स्रवन्ति की जैसी भी बाढ़ क्यों न आए, भारतदेश में उसका गम्यस्थान तो वेदान्त-सागर ही है, इस सर्वमान्य तथ्य का निरूपण करता है यह उपन्यास। विशिष्टता इस बात में है कि यह उपन्यास इस विषय पर ज़ोर देता है कि उपर्युक्त तथ्य को व्यक्तिगत रूप से निरूपित कर उसकी साधना करनी पड़ती है।" किसी एक की परिस्थितियाँ या बुद्धि के विकास का क्रम, अन्य को प्राप्त नहीं होते। किन्तु उन सबको एक ही पद्धति पर—किसी के शासित पद्धति पर-चलने के लिए कहना ही हमारा दुर्भाग्य है। प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने जीवन को सुधारने पर संसार स्वयं सुधर जाता है।" व्यक्तिगत दृष्टिकोण, मानवतावाद, अस्तित्ववाद किसी भी नाम से पुकारें, 'हम' के टुकड़े हो कर 'तुम' और 'मैं' बन कर उत्तर और दक्षिण की ओर सफ़र कर रहे हैं. 'सब' तो नहीं हैं।" यह उपन्यास बताता है कि इस सत्य को पहचानने वाला दृष्टिकोण, उससे अनुबद्ध सहनशीलता, क्षमा, दया को प्रधान मान कर चलने वाला जीवन, आधुनिक मानव के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार लेखक को अपने उद्देश्य (जीवन के प्रति दृष्टिकोण का निर्माण करना चाहिए) में निस्सन्देह सफलता प्राप्त हुई है।

श्री दोगिपर्ति रामलिगम्

आन्ध्र जीवन विधान, आन्ध्र संस्कृति, आन्ध्र सामाजिक वातावरण आदि को प्रतिबिम्बित करने वाला 'चदुवु' (शिक्षा) नामक उपन्यास, आन्ध्र के उपन्यास-साहित्य में महत्त्वपूर्ण रचना है। इस उपन्यास में मात्र शिक्षा ग्रहण को लक्ष्य मान कर, अकर्मण्य जीवन बिताने वाले आदर्श युवक का प्रभावशाली चित्रण किया गया है। 'शिक्षा' विषयक उद्देश्य की पूर्ति की दृष्टि से उपन्यास का नाम और कथानक दोनों ही अन्वर्थक हैं।

आन्ध्र के कल्पना प्रधान गद्य साहित्य में अपूर्व रचनाशिल्प से युक्त हो, यथार्थवादी चित्रण करने वाली रचनाओं में श्री कुटुम्बराव का 'चदुवु' अत्यधिक लोकप्रिय है।

लगभग चालीस वर्ष से कथा साहित्य का निर्माण करते हुए आज भी किसी सम्पादक के निवेदन करते ही कहानी अथवा धारावाहिक उपन्यास लिख देने की सामर्थ्य रखने वाले श्री कोडवटिगंटि कुटुम्बराव आन्ध्र के वर्तमान कथाकारों में अग्रगण्य हैं। संख्या मे, लेखन क्रिया के वेग में, रचना की विचित्रता में आज के लेखकों में श्री कुटुम्बराव का विशिष्ट स्थान है। यही नहीं, जीवन की वास्तविकता को अधिक प्राधान्य दे कर, जीवन के सत्य को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करने वाले आन्ध्र रचयिताओं में श्री कुटुम्बराव का नाम मूर्धन्य है।

श्री कुटुम्बराव का जन्म सन् 1909 में, 'आन्ध्र-पैरिस' के नाम से प्रसिद्ध 'तेनालि नगर' में हुआ था। आन्ध्र विश्वविद्यालय से बी. एससी की डिग्री प्राप्त कर ये बनारस के हिन्दू विश्वविद्यालय में एम एससी का अध्ययन करने गये किन्तु अध्ययन क्रम को पूरा नहीं कर पाये। तदुपरांत छोटे-बड़े का भेद किये बिना इन्होंने कई नौकरियाँ कीं। प्रेस का संचालन किया, पत्रिकाएँ चलायीं, सम्पादन का कार्य किया और सिनेमा के लिए कथा-संवाद आदि लिखे। सम्प्रति 'चन्दामामा' (बच्चों की मासिक) का सम्पादन करते हुए, मद्रास में निवास कर रहे हैं।

आन्ध्र के कल्पना-प्रधान गद्य-साहित्य में श्री कुटुम्बराव ने रचनाशिल्प तथा जीवन के वास्तविक चित्रण में जो कुशलता दिखलायी है, वह अपूर्व है। कहानी, लंबी कहानी, छोटी कहानी इत्यादि नामों से अनेक रूप में कथाप्रधान रचनाएँ की है। आन्ध्र में 'गल्पिका' का श्रीगणेश करने वाले ये ही हैं। मेरा विचार है कि श्री कुटुम्बराव का 'कविराट्' के नाम से प्रकाशित गल्पिका-संग्रह ने तेलुगु साहित्य-क्षेत्र में चिर यश का संपादन कर लिया है। इन्होंने 'अल्पिकाएँ' (बहुत छोटी कहानी) भी लिखी हैं और प्रधानतः 'नवलिका' (छोटा उपन्यास) की श्रीवृद्धि करने में योगदान दिया है। कहानी और

छोटे उपन्यास के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि छोटा उपन्यास जीवन का प्रामाणिक (डाक्युमेंटरी) चित्र है। इन्होंने 'लेचिपोयिन मनिषि' (भागी हुई औरत। नामक 19 पृष्ठों के सफल लघुउपन्यास की रचना कर दिखलायी है। जासूसी साहित्य के क्षेत्र में उनकी 'केयास' नामक जासूस की सृष्टि अविस्मरणीय है। इसके अतिरिक्त व्यंग्य-चित्रों के समान हास्यजनक पात्रों से युक्त उपन्यासों की रचना की है। उनमें 'बेदरिन मनुष्युलु (भयभीत मानव) और 'बुतुकु भयम्' (जीवन का भय) उल्लेखनीय हैं।

श्री कुटुम्बराव की रचनाओं में प्रधानतया कृष्णा-गुन्टूर ज़िलों के मध्यवर्गीय सामाजिक वातावरण का चित्रण हुआ है। मद्रास में बस जाने के पश्चात् मद्रास नगर, वहाँ के मध्यवर्गीय तेलुगु परिवार, सिने जगत् के व्यक्तियों का जीवन विधान, फ़िल्मी क्षेत्र के लेखकों के रंग-ढंग, पत्रकारों की यातनाएँ आदि को वस्तु के रूप में ग्रहण कर रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। ग्रामीण प्रान्तों के सामाजिक दृश्य, नागरिक जीवन के विचित्र अनुभव, वैज्ञानिक विषयों का परिज्ञान, हेतुवाद तथा मार्क्सवाद के प्रति अभिरुचि, सुधारवादी आन्दोलन आदि ने इनके दृष्टिकोण को प्रभावित किया है। प्रमुख रूप से दोनों महायुद्ध तथा उन युद्धों के पूर्वापर सामाजिक जीवन का सूक्ष्म दृष्टि से अनुशीलन करने के कारण श्री कुटुम्बराव की रचनाओं की कथावस्तु तथा चरित्रचित्रण विशिष्ट पद्धति के बन पड़े हैं।

श्री कुटुम्बराव के उपन्यासों में 'चदुवु' (शिक्षा) अपेक्षाकृत लोकप्रिय रचना है। आकार के अतिरिक्त सामाजिक जीवन की परिवर्तनशीलता, सामाजिक इतिहास की अभिव्यंजना तथा मुख्य पात्र के चरित्रचित्रण के वैशिष्ठ्य के दृष्टिकोण से इस रचना का महत्त्व अधिक है। स्वयं लेखक को भी यह रचना परितोष प्रदान कर सकी है। समालोचकों ने भी श्री कुटुम्बराव की इस रचना की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। यह उपन्यास सन् 1952 में पहली बार प्रकाशित हुआ था और तदन्तर इसके दो संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

इस उपन्यास की कथावस्तु का प्रारम्भ सुन्दरम् नामक बालक के अक्षरारम्भ से होता है और उस बालक के पुत्र के अक्षरारम्भ से समाप्त हो जाता है। इन बीस वर्षों की अवधि में समाज में उस बालक का विकास-क्रम और उसके व्यक्तित्व के निर्माण-विधान आदि का लेखक ने अत्यन्त विस्तृत पृष्ठभूमि के आधार पर चित्रण किया है तथा अत्यन्त वास्तविक घटनाओं

का चित्रण करते हुए समकालीन समाज के सम्पूर्ण चित्र को प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है।

सुन्दरम् का जन्म निम्न मध्यवर्गीय ब्राह्मण परिवार मे होता है। उसके पाँच वर्ष के होते ही अक्षरारम्भ करके, चटसार में भेजा जाता है। उसकी शिक्षा-दीक्षा के बारे मे उसके पिता को कोई आसक्ति अथवा अभिरुचि नहीं रहती किन्तु उसकी माता सीतम्मा उसकी पढ़ाई की ओर अत्यधिक ध्यान देती है। प्रारम्भ में वही स्वयं उसे पढ़ना-लिखना सिखाती है। प्राय. चटसार में शिक्षा की अपेक्षा दण्ड की मात्रा ही अधिक होती है। अतः घर पर ही अध्यापक को नियुक्त कर, सुन्दरम् को पढ़ाया जाता है। इसी बीच उसके पिता का निधन हो जाता है। उस दुःख में, कुछ दिनों तक माता उसकी पढ़ाई के बारे में ध्यान नहीं देती। सुन्दरम् नयी-नयी संगतियों में फँस जाता है। कमज़ोर, डरपोक और नादान सुन्दरम् के स्वभाव में क्रमशः परिवर्तन आ जाता है। अनाथ हो जाने पर भी उसकी माता किसी प्रकार परिवार का निर्वाह करते हुए उसे स्कूल में भेजती है। देखते-देखते सुन्दरम् की पढ़ाई का खर्च उसकी सामर्थ्य से बढ़ जाता है। परन्तु अपनी गरीबी सुन्दरम् की समझ में नहीं आती। माँगने पर भी माँ पैसे नहीं दे सकती तो वह मन ही मन कुढ़ कर रह जाता। वह तो सदा कल्पना लोक में डूबा रहता। पुस्तकें ही उसका सर्वस्व थीं। उसकी माता को सदा यही भय रहता कि उसकी शिक्षा को कैसा पूरा करें। किसी प्रकार वह उसे मैट्रिक तक पढ़ाती है। क़र्ज़ ले कर बेटी का विवाह कर देती है। सुन्दरम् से कह देती है कि अब मैं तुम्हें पढ़ा नहीं सकती। अब तो कोई नौकरी कर लो और शादी कर गृहस्थी जमाओ। किन्तु सुन्दरम् का सारा ध्यान तो पढ़ाई की ओर ही था। माता उसे समझाती है कि यदि शिक्षा के खर्चे को दे सकने वाला ससुर मिले तो विवाह कर लेने में ही भलाई है। सुन्दरम् का विवाह हो जाता है और वह ससुराल में रहते हुए, उन्हीं के खर्चे पर आगे पढ़ता रहता है। इस तरह वह बी. ए. की परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता है। सब यही समझते हैं कि अब उसकी पढ़ाई पूरी हो गयी है। मुख्य रूप से सीतम्मा सुख की साँस लेती है कि मेरा पुत्र चार पैसे कमा कर, मेरे बोझ को हल्का करेगा। किन्तु सुन्दरम् कहता है कि मैं बनारस जा कर एम. ए, एल-एल. बी. करूँगा। सब आश्चर्यचकित रह जाते हैं। उसकी पढ़ाई ही को सब कुछ समझने वाली सीतम्मा इनकार नहीं कर सकती। सुन्दरम् बनारस जाता है और वहाँ विश्व-

विद्यालय में दो वर्ष तक पढ़ता है। किन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण कालेजों के बन्द होने पर वह अपने गाँव लौट आता है और घर बैठे-बैठे राष्ट्रीय आन्दोलन के स्वरूप तथा परिणामों का परिशीलन करता रहता है। परन्तु स्वयं कुछ नहीं करता। वह मन से आदर्शशील है, बस उतना ही......। तदन्तर कालेजों के खुल जाने पर, धन के अभाव के कारण वह फिर बनारस नहीं जा सकता। इसी बीच उसको एक पुत्र होता है। सन् 1935 में आर्थिक न्यूनता का समय आता है। सारा देश आर्थिक संकट से क्षुब्ध हो उठता है। सुन्दरम् की सारी जायदाद क़र्ज़दारों के अधीन हो जाती है। वह कोई नौकरी नहीं करता। कभी-कभी पत्र-पत्रिकाओं को एकाध कहानी लिख भेजता है। उससे कुछ पैसे मिल जाते। घर में बचा खुचा सामान बिक जाता है। इस स्थिति में भी यह देख कर कि अपने चार साल के बालक को पत्नी अक्षर सिखा रही है, सुन्दरम् को बड़ी प्रसन्नता होती है। बस, यहीं उपन्यास भी समाप्त हो जाता है। कथानायक सुन्दरम् के अक्षरारम्भ से प्रारम्भ होने वाली कथा, उसके पुत्र के अक्षरारम्भ होने पर समाप्त हो जाती है। इस तरह कथाचक्र पूरा हो जाता है।

सुन्दरम् का लक्ष्य मात्र 'शिक्षा ग्रहण' है। उसे यह नहीं मालूम कि उसके बाद क्या करे। वह क्रियाशील नहीं। लेखक ने इस उपन्यास को इन शब्दों में समाप्त किया है कि "जिधर भी उसकी (सुन्दरम् की) दृष्टि गयी, जीवन-रूपी समुद्र में ऊबचूभ होने वाले ही दिखायी पड़े, पर जीवन के शिखर पर आरूढ़ हो, नवनिर्माण कर सकने वाले कहीं नहीं दिखाई पड़े।" इन वाक्यों से स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ने इस उपन्यास द्वारा आर्थिक न्यूनता तथा राष्ट्रीय आन्दोलन के समय केवल मानसिक रूप से आदर्शवादी बने एक युवक का शिक्षा ग्रहण, विभिन्न परिस्थितियों तथा प्रभावों के कारण उत्पन्न उसकी अकर्मण्यता तथा असमर्थता आदि का विशद चित्रण किया है। इस उपन्यास के पात्र शतप्रतिशत वास्तविक जीवन से लिये गये हैं। लेखक को उन पात्रों के विभिन्न मानसिक प्रवृत्तियों तथा अन्तर्द्वन्द्वो के चित्रण में अतीव सफलता मिली है। इस दृष्टिकोण से यह उपन्यास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। फ्रेंच भाषा के प्रसिद्ध आलोचक बाल्जाक के उपन्यास की परिभाषा के अनुसार 'चदुवु' को तेलुगु का श्रेष्ठ उपन्यास माना जा सकता है। बाल्जाक का कथन है कि "महान् उपन्यास वे होते हैं जो जीवन के क्षेत्र में किसी युवक के शिक्षा ग्रहण

का वर्णन करते हैं।...उस रचना का निचोड़ तो उसके यौवन की अभिरुचियों तथा जीवन की निष्ठुर वास्तविकताओं के संघर्ष में है।"[1]

इस उपन्यास के कथानक में आन्ध्र देश के ग्रामों में बालकों के शिक्षा विधान का अत्यन्त सूक्ष्मता से वर्णन किया गया है। इस वर्णन के प्रसंग में बालकों के मनस्तत्त्व का तथा उनमें दृष्टिगोचर होने वाले स्वाभाविक परिवर्तनों का प्रभावशाली चित्रण किया गया है। इन सभी विषयों के वर्णन के कारण इस उपन्यास का नाम अत्यन्त सार्थक बन गया है। जहाँ तक मेरा ज्ञान है, यह उपन्यास जीवन में 'शिक्षा ग्रहण' नामक अध्याय का मानों लेख्य प्रमाण है तथा विश्वकोष है।

यद्यपि इस उपन्यास में कथानक बहुत अल्प है, फिर भी उसको आधार बना कर आन्ध्रदेश के सामाजिक जीवन के बीस वर्ष (1915–1935) के बहुमुखी चित्र को प्रस्तुत करते हुए, उन दिनों की कई विशेषताओं का सविस्तार वर्णन किया गया है। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् सारा देश आर्थिक संकट में फँस गया। इस आर्थिक सकट से भारतीय अनभिज्ञ थे। उन्हें इसका पता तक नहीं था कि जीवन पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा। लेखक के शब्दों में उस समय जीवन की दशा दीर्घकालीन रोग से पीडित व्यक्ति के समान थी जो फिर से स्वास्थ्य लाभ का प्रयत्न कर रहा हो। नयी नयी वस्तुओं के साथ नये विचार भी आये थे। जीवन में मानों कुछ नया चैतन्य आया था। स्तब्ध जीवन में जलियानवाला बाग़ के हत्या-काण्ड से एकदम हलचल मच उठी। रौलट एक्ट तथा सत्याग्रह आन्दोलन ने शिक्षित समाज में चैतन्य भर दिया। देश के किसी कोने में बालगंगाधर तिलक के स्वर्गस्थ हो जाने का समाचार पा कर आन्ध्र के किसी गाँव का अध्यापक दुखी हुआ। गान्धी जी के असहयोग आन्दोलन, स्वदेशी आन्दोलन, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, स्कूल और कालेजों के सामने पिकेटिंग, सरकारी नौकरियों को त्याग पत्र दे देना, 'वन्देमातरम् मन्दे राज्यम्' (अपना ही है राज्य) के नारे, अस्पृश्यता के निवारण तथा जनता में एकता का उद्बोधन करने वाले भाषण, घर-घर में चरखा, स्वराज्य की पाठशालाएँ, स्वराज्य की शिक्षा, हर जगह

---

1. The greatest novels are those that tell of a young man's apprenticeship to life ....the essence of which is to be found in the conflict between the hopes of youth and the relentless facts of life.

टाट-से कपड़े, मानों सारा वातावरण गान्धीमय बना हुआ था। सुधारवादियों का बाल विवाहों को रोक कर, रजस्वलानन्तर तथा विधवा विवाह करवाना, गान्धीजी का विजयवाडा आना, मद्रास का कांग्रेस अधिवेशन, उस समय के भारतीय वातावरण के प्रतिनिधि के रूप में हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना, वाइसराय का हत्या प्रयत्न, लाहौर षड्यन्त्र, विद्यार्थियों में जागृति--आदि अनेक सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक विषयों के समग्र वर्णनों से युक्त यह उपन्यास आन्ध्र प्रान्त के सामाजिक इतिहास का अध्ययन करने वालों के लिए अवश्य ही संदर्भ ग्रन्थ का सा-काम देगा। यही नहीं आन्ध्र के ग्रामीण जीवन में उपस्थित परिवर्तन तथा आने वाले परिणामों की ओर भी यह रचना इंगित करती है।

वास्तविकता से भरे हुए इस उपन्यास में पात्रों के स्वभावों के तथा सामाजिक परिस्थितियों के वर्णन के प्रसंग में हास्य रस का भी पर्याप्त निर्वाह हुआ है। अपने बारहवें वर्ष में ही विवाहित हो कर वर्ग में आये हुए अपने सहपाठी को देख कर सुन्दरम् को चिन्ता होती है! एक बार सुन्दरम् नाटक देखने जाता है तो रंगमंच के एक ओर एक स्त्री को बीड़ी फूंकते देख कर उसे बड़ा आश्चर्य होता है। पुरुष के स्त्री-वेष धारण कर, बीड़ी फूंकते रहने पर देखने वालों को हँसी आती ही है! स्त्री वेष धारण कर अभिनय करने वाला पति जिसमें एक पात्र है, उस नाटक को देखने के लिए आयी हुई ग्रामीण स्त्री आँखें मूँद लेती है। स्त्रियाँ घनिष्ट मित्रता के अभाव में भी घंटों बैठे, अपने दिल की बातें कहती रहती हैं। वही उनकी शिक्षा है, साहित्य चर्चा है और तत्त्वज्ञान की चटसार है! इसी प्रकार लेखक ने जीवन के अन्य कई वास्तविक विषयों का वर्णन किया है जो हमें गुदगुदा देते हैं। ये सब हमारी बुद्धि को पैनी बनाने वाली हास्योक्तियाँ ही हैं।

यह उपन्यास मध्यवर्ग के परिवारों की भाषा-शैली मुहावरों तथा कहावतों का सुन्दर नमूना प्रस्तुत करता है।

आन्ध्रों के जीवन का विधान, संस्कृति, सामाजिक वातावरण आदि को प्रतिबिम्बित करने वाला यह उपन्यास सचमुच आन्ध्र के उपन्यास साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

कुछ प्रमुख उपन्यास–12

अल्पजीवी

डा. कोवेल सुप्रसन्नाचार्य

अभिव्यंजना शैली की नवीनता के कारण 'अल्पजीवी' को तेलुगु उपन्यास साहित्य में अन्यतम गौरव प्राप्त है। युगीन चेतना धारा का यथातथ्य चित्रण के कारण यह उपन्यास तेलुगु के मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों में अद्वितीय माना जाता है।

इस उपन्यास में भय, लोभ और काम पर आधारित कथानायक के व्यक्तित्व का विकास तथा उसके अल्पसत्त्व (हीन भावना) का मनोवैज्ञानिक चित्रण इस रूप में हुआ है कि पाठक इसे पढ़ कर चमत्कृत हो उठता है। हीन भावना ग्रस्त 'अल्पजीवी' का यथातथ्य चित्रण करने वाला यह मनोरम उपन्यास प्रबुद्ध आन्ध्र पाठकों द्वारा समादृत हुआ है।

अल्पजीवी इस शताब्दी के पाँचवें दशक में प्रकाशित विशिष्ट तेलुगु उपन्यास है। तेलुगु के उपन्यास साहित्य में यह युगान्तकारी रचना है। जब यह उपन्यास पहली बार 'भारती'[1] में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ था तो प्रत्येक पाठक को यह शंका हुई कि यह कथा है या काव्य ? और यह उक्त उपन्यास की अभिव्यक्ति की नवीनता के कारण ही थी। उस उपन्यास के रचयिता हैं श्री राचकोंडा विश्वनाथ शास्त्री।

श्री विश्वनाथ शास्त्री आज के तेलुगु कहानीकारों में लब्धप्रतिष्ठ हैं।[2] 'ऑरु सारा कथलु' (शराब की छः कहानियाँ) 'ऑरु सारो कथलु' (विषाद की छः कहानियाँ), 'मरो ऑरु चित्रालु' (और छः चित्र) आदि कहानी संग्रह उनकी प्रतिभा के प्रमाण हैं। उनकी अन्य अनेक कहानियाँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं। 'अल्पजीवी' में उन्होंने अभिव्यक्ति की जिस विशिष्ट शैली का प्रयोग किया है, तदनन्तर की कहानियों में भी उसी शैली का निर्वाह किया है।

आधुनिक साहित्य में मनस्तत्व के अनुशीलन का विशिष्ट महत्त्व है। साहित्य के क्षेत्र में फ्रायड के सिद्धान्त अनेक क्रान्तियों के कारण बने हैं। अतियथार्थवाद जैसे आन्दोलनों ने साहित्य के साथ-साथ चित्रकला को भी प्रभावित किया है।

जिस प्रकार बरफ़ की चट्टान पानी की सतह पर तैरती रहती है, उसी प्रकार मन की जागृत दशा है। अर्थात् वह जितना प्रकट है, उससे अधिक निगुप्त। जागृत दशा में हम जिस व्यक्त भावजगत की भावना करते , वह समग्र नहीं है। इस जागृत मन के पीछे अर्धचैतन्य की दशा है। उस दशा के अनेक भाव, कल्पनाएँ, अनुभव आदि दमित रूप में रहती हैं। जब भी

1. तेलुगु की सुप्रसिद्ध साहित्यिक मासिक पत्रिका; 2. आन्ध्रप्रदेश साहित्य अकादमी की ओर से श्रेष्ठ कथाकार के रूप में पुरस्कृत हैं।

अवसर मिले, ये सब भाव चैतन्य में आने का प्रयत्न करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की कल्पनाएँ, आशय, व्यवहार आदि सभी इस अर्द्ध चैतन्य की अनुभूति के आधार पर, जागृत मन के ज्ञान के बिना ही रूपायित होते रहते हैं। मानव का समग्र व्यक्तित्व इसी जाग्रत तथा सुप्त चैतन्य के संघर्ष से बनता रहता है।

हमारी स्वप्न दशा भी इसी सुप्त चैतन्य की रंगभूमि है। हमारी दमित इच्छाएँ ही अनेक रूपों में हमारी स्वप्न वीथियों में दृष्टिगोचर होती रहती हैं। इसलिए किसी व्यक्ति के चरित्र का अनुशीलन करते समय इस सुप्त-चैतन्य के बारे में भली-भाँति जान लेना चाहिए। इस मनस्तत्व के विश्लेषण से ही मानव में दृष्टिगोचर होने वाले वैविध्य अथवा वैशिठ्य के कारणों का पता लग सकता है। हमारे काम-क्रोध, राग-द्वेष, इच्छा-अनिच्छा— ये सब इसी पर आधारित हैं। यही फ्रायड़ के प्रतिपादित सिद्धान्त का मुख्य सूत्र है।

इस सिद्धान्त की प्रबलता ने आधुनिक साहित्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किये हैं। 'जेम्स जाइस' का 'युलिसस' नामक उपन्यास इस सिद्धान्त के आधार पर किया गया प्रमुख प्रयोग है। तेलुगु में श्री गोपीचन्द के 'असमर्थुनी जीव यात्रा' तथा श्री बुच्चिबाबू के 'चिवरकु मिगिलेदि' नामक उपन्यासों पर इस सिद्धान्त का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। सीतारामय्या और दयानिधि के व्यक्तित्व का विकास इसी सिद्धान्त के अनुरूप हुआ है। इन रचनाओं के पश्चात् 'अल्पजीवी' इस धारा की प्रमुख रचना है।

समाज के क्षेत्र में कृषि प्रधान दशा से औद्योगिक युग में पहुँचने पर मानव के सामाजिक सम्बन्धों में अनेक परिवर्तन आये हैं। प्रारम्भ में व्यक्ति समाज का एक अंग था। समस्त जीवन समाज के नियमों के अनुसार ही संचालित होता था। इस समष्टि समाज के भाव बन्धनों से व्यक्ति को पृथकत्व प्रदान करने वाला औद्योगिक युग है। अब व्यक्ति को प्राधान्य मिल रहा है। वैयक्तिक प्रयोजनों के अनुसार सामाजिक नियम भिन्न-भिन्न रूपों में समन्वित होते आ रहे हैं। इसलिए समाज में आए हुए इस परिवर्तन का प्रभाव ललित कलाओं पर सुस्पष्ट रूप से परिलक्षित हो रहा है।

औद्योगिक क्रान्ति से पहले काव्य, उपन्यास आदि समाज के अति-विस्तृत जीवन को अपने सर्वतोमुखी रूप में प्रदर्शित करते थे। इन रचनाओं में समाज के आदर्श, आशय आदि के प्रतिबिम्बों के रूप में व्यक्तियों का

चित्रण होता था। किन्तु आधुनिक काल में व्यक्ति को केन्द्र मान कर, उसके राग-द्वेषों के आधार पर समाज का चित्रण किया जा रहा है। इसलिए आज की कलाकृतियों में खण्डकाव्य और कहानी को अत्यधिक प्राधान्य मिल रहा है। उपन्यास भी व्यक्ति को केन्द्र मान कर ही लिखे जा रहे हैं। 'अल्पजीवी' का सुब्बय्या ऐसा ही पात्र है। कथानक के प्रारम्भ से ले कर अन्त तक वही उसका केन्द्र है। दूसरे सभी पात्र उसके व्यक्तित्व की जटिलताओं से उद्भूत चरित्र हैं।

यह उपन्यास एक प्रकार से स्वगत भाषण[1] जैसी रचना है। ऐसी रचनाएँ आत्माश्रयी रूप में और वस्त्वाश्रयी रूप में भी रचे जा सकते हैं। रचयिता उत्तम पुरुष में कहानी कह दे अथवा किसी पात्र से कहलाए, उसमें एक ही व्यक्ति पर कथानक के आधारित होने से उस व्यक्ति के विचार ही, उस रचना के प्रधान अंश होते हैं। सुब्बय्या के जीवन में कितने ही पात्र आएँ, कितने ही पात्रों से उसका सम्पर्क हो जाए, उन सबको हम सुब्बय्या के परिवेश में ही देखते हैं न कि स्वतन्त्र रूप में।

इन रचनाओं की विशिष्टता सुप्त तथा जाग्रत चैतन्य के संघर्ष के चित्रण पर आधारित है। इस प्रकार के चित्रण द्वारा व्यक्ति के चरित्र का विकास तथा उसकी प्रवृत्ति, सभी कुछ सुस्पष्ट रूप में दिखाई पड़ता है। चैतन्य एक प्रवाह के समान है। हमारे मन की भावनाएँ भी एक अविच्छिन्न धारा के रूप में प्रवाहित होती रहती हैं। इस चेतना धारा[2] को यथातथ्य रूप में चित्रित करें तो प्रतीत होता है कि घटनाओं के पीछे कोई अन्तर्वर्ती सम्बन्ध है। यदि मन की गहराइयों का परिशीलन करें तो सुप्त चैतन्य में उस सम्बन्ध का आधार दिखाई पड़ता है। इसलिए आधुनिक लेखक उस चैतन्य धारा को सुसंहित कर रचना निबद्ध करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

"किसी भी प्रकार से वेंकटराव से मिलना चाहिए। मिल कर किसी बात का निश्चय कर लेना चाहिए। वेंकटराव का व्यवहार कुछ अच्छा नहीं लग रहा है। घर में रह कर भी उससे झूठी बात कहला दी। कितने मीठे शब्दों में कहा है। इसमें उस बेचारी का कोई दोष नहीं है ?"

यहाँ वेंकटराव से भेंट करना और उससे पैसे के बारे में तय कर लेना प्रधान विषय है। उस स्त्री का जवाब है कि वेंकटराव घर पर नहीं हैं। ठीक

1. Interior Monologue.
2. Stream of consciousness.

है, किन्तु उसका जवाब सुन्दर है। यहाँ सुब्बय्या के मन में छिपी वासना झाँक रही है। उस स्त्री को देखा तक नहीं। स्त्री के कंठ स्वर को सुनते ही कल्पना करने लग जाता है। कंठ स्वर मधुर है। उसका कोई दोष नहीं है। यहाँ इनका कोई सम्बन्ध ही नहीं, किन्तु मन उस प्रकार सोचता ही रहता है। इसी भाव धारा का वर्णन लेखक एक और स्थान पर करता है। वह यह कि सुब्बय्या घर के सामने बैठा-बैठा अपने घर के सामने से गुज़रने वालों में से कुछ एक को देखता रहता है और उनके बारे में तरह-तरह की कल्पनाएँ करता रहता है। लाल साड़ी वाली स्त्री, मुनीश्वर,[1] हिरन के बच्चे[2] आदि के बारे में सुब्बय्या तरह-तरह की कल्पनाएँ करता रहता है।

इस उपन्यास का सबसे प्रधान विषय अभिव्यंजना शैली की नूतनता है। दूसरे उपन्यासों से भिन्न रूप में, इसमें भावधारा का वर्णन होने से, सारा उपन्यास एक अविच्छिन्न सूत्र से युक्त महावाक्य के समान लगता है। पाश्चात्य देशों की कुछ रचनाओं में काल की अकल्पनीयता को थोड़ा-बहुत प्रयोग में लाया गया है। मामूली तौर पर हमें भूत, भविष्य, वर्तमान अलग-अलग दिखाई पड़ते है। पूर्व कथा को दुहराने पर भूतकाल वर्तमान में आ जाता है। यहाँ कथागमन से भूतकाल का आभास स्पष्ट है। परन्तु इधर की रचनाओं में तीनों काल वतमान में ही प्रस्फुटित किये जा रहे हैं। इस काल गति के निरूपण करने वाले रूप में, तेलुगु मे कोई उल्लेखनीय प्रयत्न नहीं हुआ है। 'वेल्लुव लो पूचिकपुल्लु' (बाढ़ मे तिनके) नामक उपन्यास के प्रथम भाग में श्री भास्करभट्ल कृष्णाराव ने ऐसा कुछ प्रयत्न किया है।

उपर्युक्त अनेक आधुनिक लक्षणों से समन्वित होने पर 'अल्पजीवी' रचना, विशिष्ट अध्ययन के योग्य है।

'अल्पजीवी' की कथा संक्षेप में इस प्रकार है। सुब्बय्या सामान्य गृहस्थ है। किसी दफ़तर में क्लर्क है। डरपोक है। वेंकटराव उसका साला है। वेंकटराव कभी सम्पन्न था। अब वह कान्ट्रैक्टर (गुत्तेदार) है। एक बार वह सुब्बय्या के पास आ कर कहता है, मुझे पाँच सौ रुपयों की सख्त ज़रूरत है। दफ़्तर में गवरय्या नामक गुत्तेदार के बिल्स सुब्बय्या के पास हैं। इसलिए गवरय्या से पाँच सौ रुपये माँग लेने को कहता है। इनकार न कर सक, सुब्बय्या हामी भरता है।

---

1. एक सीधा-सादा व्यक्ति, जिसे सुब्बय्या मुनीश्वर कहता है।
2. फुर्तीली बालिकाएँ जिन्हें सुब्बय्या हिरन के बच्चे कहता है।

जैसी सम्भावना थी, उसी प्रकार सुब्बय्या के माँगते ही, उसी दिन शाम को गवरय्या पाँच सौ रुपये भेज देता है। सुब्बय्या उन्हें वेंकटराव को दे देता है। किन्तु दफ़तर में यह बात फैल जाती है। हेड क्लर्क सुब्बय्या पर नाराज़ हो जाता है और उस सेक्शन से हटा कर उसे डिस्पैच सेक्शन में भेज देता है।

इस बात का पता लगते ही गवरय्या आता है। उसके बाद एक दिन स्वयं गवरय्या सड़क पर उसे धमकाता है। अब सुब्बय्या को चाहिए कि कहीं से रुपये लौटा दे। वेंकटराव से जब कहता है, तो वह एक हफ़्ते के बाद मिलने को कहता है। किन्तु वचन के अनुसार वेंकटराव मिलता नहीं। उसके लापर-वाह जवाब सुब्बय्या के भय को दूर नहीं करते। अन्त में सब के प्रोत्साहन से सुब्बय्या हिम्मत बाँध कर गवरय्या के चपरासी से कह देता है कि अब मैं पैसे नहीं दूँगा। लेकिन उसी रात को गवरय्या के आदमी उसे पकड़ कर, सता कर, जबरदस्ती उससे हज़ार रुपये के लिए प्रामसरी नोट लिखा लेते हैं।

अन्त में किसी भी प्रकार से वेंकटराव, सुब्बय्या की प्रेमिका मनोरमा, दफ़तर के दूसरे क्लर्क अवधानी आदि की कारगुज़ारी से सुब्बया, गवरय्या के चंगुल से छूट जाता है।

इस उपन्यास के इतिवृत्त में मनोरमा की कथा भी गुँथी हुई है। वह अध्यापिका है। साधारण-सा परिचय ही बढ़ते-बढ़ते, सुब्बय्या और मनोरमा का अवैध सम्बन्ध हो जाता है। सुब्बय्या को वह सम्बन्ध अच्छा लगता है, किन्तु सदा उसे डर लगा रहता है कि वह कहीं रुपये माँग न बैठे। उपन्यास के अन्त में इसी सन्देह से विकल बने सुब्बय्या के पास मनोरमा के आने पर कथा समाप्त हो जाती है। यह अल्पकथा सूत्र ही इस उपन्यास का आधार है। सारा इतिवृत्त सुब्बय्या के गवरय्या से माँगे हुए पाँच सौ रुपयों के चारों तरफ़ घूमता रहता है। सामान्यतया उपन्यास समग्र जीवन को प्रतिबिंबित करता है। किन्तु यहाँ तो वह एक ही घटना का विवरण मात्र है। इसलिए कहना चाहिए कि यह एक कथा का ही विस्तृत रूप है। किन्तु इस उपन्यास के चित्रण में निहित चेतना-धारा की प्रवृत्ति इसे उपन्यास का गौरव प्रदान कर रही है।

इस उपन्यास के पात्र हमारे नित्य-जीवन के ही हैं। सुब्बय्या, वेंकट-राव, गवरय्या, रामस्वामी, अवधानी, पोतम्मा, सावित्री, मनोरमा, इन्हें तो

हम रोज़ देखते ही हैं। किन्तु इस उपन्यास में सभी पात्रों का चित्रण सुब्बय्या की दृष्टि से ही होता है। उसी के दृष्टिकोण से उनकी व्याख्या होती है।

उपन्यास का प्रथम अध्याय मुख्य पात्र के चित्रण से भरा पड़ा है। इसी पर सारी कथा आधारित है। सुब्बय्या भयशील प्रवृत्ति वाला है। उसका प्रधान लक्षण ही भय है। इसीलिए उसके स्वभाव में अन्तस्संघर्ष अधिक है। समाज के अनेक बन्धनों से आबद्ध वह किसी प्रकार का साहस नहीं कर सकता। वह अपनी पत्नी सावित्री से यह भी नहीं पूछ सकता कि 'कढ़ी में नमक ज़्यादा क्यों डाल दिया है?' बाज़ार में कुंजड़े से भी मोल-तोल करने में वह हिचकिचाता है। ज़रूरत पड़ने पर भी दफ़्तर में छुट्टी माँगने के लिए वह आगे-पीछे करता है। वेतन के डेढ़ सौ रुपये कहीं पहले ही ख़र्च न हो जाएँ, इस डर से वह पहली तारीख से ही बहुत सावधानी बरतता है।

यह है सुब्बय्या का स्थूल रूप। इसमें उसके स्वभाव का मूलभूत 'भय' ही प्रधान रूप से परिलक्षित होता है। इसी गुण के कारण उसमें कई अच्छे गुण भी पैदा हो जाते हैं। वह नियम का उल्लंघन नहीं कर सकता, रेलगाड़ी में बिना टिकट के सफ़र नहीं कर सकता, बचपन में कभी वर्गों से भागा नहीं, और बिना छुट्टी लिए दफ़्तर में अनुपस्थित न रहा। संसार की दृष्टि में ये सब अच्छे गुण है। किन्तु इन सबका कारण सुब्बय्या की भलमानसी अथवा समाज में अपनी ज़िम्मेदारी को जानने का भाव नहीं है। इसके पीछे उस प्राणी का मूल लक्षण 'भय' ही है। इस 'भय' से कोई बचाने वाला हो तो वह कुछ भी करने को तैयार होगा। इसीलिए रचयिता इस प्रकार कहता है—"भय का और भलमानसी का कोई सम्बन्ध नहीं है। डरपोक आदमी कभी अच्छा आदमी नहीं बन सकता। भले काम कर ही नहीं सकता। यह विश्वसनीय तथ्य है कि भले बनने के लिए आत्म स्थैर्य चाहिए।" (अन्तिम पृष्ठ) इसलिए सुब्बय्या का अल्पत्त्व (हीन भावना) उसके भयशील स्वभाव से ही सम्बद्ध है।

सुब्बय्या के पिता सोमय्या ने दूसरी शादी की थी। बचपन में सौतेली माँ की क्रूर दृष्टि और उसके विकृत रूप को देख कर सुब्बय्या डर गया था। बचपन में वह सुब्बय्या को रोज़ मारती थी। उस दशा में सुब्बय्या ने अपार वेदना का अनुभव किया था। वह एक ही वर्ष तक जीवित रही किन्तु सुब्बय्या के मन में जो भय उत्पन्न हुआ, वह जीवन भर उसके व्यक्तित्त्व पर हावी बना रहा।

सुब्बय्या अपनी माँ को नहीं जानता। किन्तु उसके बारे में उसकी कल्पना विचित्र है। उसकी भावना है कि वह उत्तम स्त्री है, देवता के समान है, जिसने अनेक कष्टों का सामना किया है। इसका कारण सौतेली माँ का क्रूर स्वभाव है। उसके स्वभाव के विरुद्ध वह अपनी अज्ञात माता की देवता के रूप में कल्पना करता है। अपने बचपन के अनुभव के आधार पर वह कल्पना करता है कि उसकी माता ने यातनाएँ सही होंगी।

उसके छठे वर्ष में उसके पिता को कोई पीटते हैं। उस घटना ने भी उसके मन पर अमिट छाप डाल दी। हो सकता है कि समाज से सुब्बय्या के भयभीत रहने का—यही घटना मुख्य कारण है। गवरय्या के आदमी जब उसे पकड़ लेते हैं, तब उसके सुप्त चैतन्य में यही घटना झलक उठती है। बचपन की उस घटना के प्रभाव के कारण ही वह अँधेरे में अकेले जाने में डरता है। रात के समय एकान्त में आँसू बहाता रहता है।

सुब्बय्या की भयशील प्रवृत्ति की पराकाष्ठा इसमें है कि वह पत्नी को डाँट कर एक बात भी नहीं कह सकता। सावित्री सुन्दरी है। वह जमींदारों के घर की बेटी है। उसके पिता ने सारी जायदाद फूंक दी थी। फिर भी उसमें उस सम्पन्नता के भाव के कारण अहंकार, लापरवाही आदि गुण हैं। उसकी भावना है कि उसकी शादी किसी राजकुमार से होनी चाहिए थी। सुब्बय्या को देखने पर उसे अपने बचपन में सैर कराने के लिए ले जाने वाली धाय के लड़के की याद हो आती थी। इसलिए वह हमेशा सुब्बय्या को छोटी नजर से देखती है। लेकिन सुब्बय्या समझता है कि सावित्री के साथ अपना विवाह होना अपने लिए महान् भाग्य की बात है और इसलिए वह उससे दबा-दबा रहता।

कथानक में इस हीनता-ग्रंथि का प्रभाव स्थान-स्थान पर दिखाई पड़ता है। सावित्री कभी उसके लिए थाली नहीं परोसती। सब तैयार रख कर वह अपने कमरे में चली जाती। सुब्बय्या व्यथित होता रहता है कि "यह सच है कि मैं उसके योग्य नहीं हूँ। किन्तु कम से कम पति के नाते मेरे प्रति थोड़ा गौरव नहीं दिखाना चाहिए?" (पृष्ठ ७४) जब सावित्री अपनी बेटी को घर पर ही छोड़ सिनेमा जाती है, तो सुब्बय्या उससे कुछ भी नहीं कह सकता। गवरय्या के नौकर पोतन्ना ने जो कहा, उतना भी वह नहीं कह सकता। तब सावित्री पोतन्ना को कुछ कह न सक, पति से इस प्रकार कहती है कि 'पति में सामर्थ्य न रहे तो स्त्री की गति ऐसी ही होती है।' इसलिए

सुब्बय्या प्राय: घर के भीतरी भाग में रहना पसन्द नहीं करता
बरामदे में बैठा सड़क पर से गुज़रने वालों को देखता हुआ तथा
में अनेक कल्पनाएँ बुनता हुआ समय गुज़ारता रहता है ।

सुब्बय्या की कल्पना भी इसी प्रकार उसके विचार-ग्रंथियों
ही है । रोज़ वह जिन-जिन लोगों को देखता है, उनमें चार मुख्य
एक लाल साड़ी वाली स्त्री है । उसका पति मिलीटरी में है । वह
प्रतीक्षा में है । घर पर बेटा बीमार पड़ा है । उसके सौन्दर्य को देख
लोग उसे फँसाने में लगे हैं । वह इनकार करती है । यह है उस स्त्री
में सुब्बय्या की कल्पना । अपनी पत्नी से सुब्बय्या को सन्तोष नहीं
उसे समुचित प्रेम नहीं मिला । इसलिए वह कल्पना करता है कि
उसके अनुकूल है । वह पति के लिए लम्बी अवधि से प्रतीक्षा कर
यह लक्षण सुब्बय्या की पत्नी में नहीं है । वह चाहता है कि उसकी
उसकी प्रतीक्षा करे । पर उसकी इच्छापूर्ति का कोई अवसर नहीं
उस स्त्री के प्रति अपने मन में जो अनुकूल भाव उत्पन्न हुआ है, उस
उसके प्रति करुणा और दया के भावों के कारणों की कल्पना करता है
वह अनेक कष्टों का सामना कर रही है, उसके सौन्दर्य को कई लोग
और वह उन सबको ठुकरा रही है आदि । इस भाव के साथ सुब्बय्य
में उसके सौन्दर्य के प्रति उत्पन्न कामना के साथ सहानुभूति का भा
उठता है । वासना की यही अभिव्यक्ति आगे चल कर मनोरमा के प
और अधिक प्रकट होती है ।

दूसरा व्यक्ति 'मुनीश्वर' है । वह साठ साल का बूढ़ा है ।
सुब्बय्या को तृप्ति होती है । उसकी कल्पना है कि वह किसी अप्सरा
से भूलोक पर उतर आया है । लोक में परायी स्त्री के प्रति इच्छा
भी, लौकिक तथा नैतिक सूत्रों के अनुसार वह दोष है । इसलिए उस
को नकार कर मनुष्य तृप्त होता है । इस प्रकार के मनुष्यों के लिए
आदर्श है । सुब्बय्या उनके उन्नत व्यक्तित्त्व को अपना आदर्श मान क
व्यक्ति पर प्रवर के व्यक्तित्त्व को आरोपित करता है । यह केवल आ
है, अवसर मिले तो सुब्बय्या परायी स्त्री के समागम के लिए पी
नहीं हटाता ।

---

1. 'मनु चरित्र' का नायक जो अपने सौन्दर्य पर आसक्त
को ठुकरा देता है ।

सुब्बय्या की दृष्टि को आकर्षित करने वाले दूसरे दो व्यक्ति 'हिरन के बच्चे' हैं। यह नाम रखने में ही अपने जीवन में जिस फुर्ती का अभाव है, उसे उन स्कूल जाने वाली बालिकाओं में देख, सुब्बय्या का आकृष्ट होना परिलक्षित हो सकता है। उन पर उत्पन्न आकर्षण के कारण उनके बारे में भी कुछ कष्टों की कल्पना वह करता है। सुब्बय्या की भावना है कि जैसे वह सौतेली माँ के कारण पीडित रहा, उसी प्रकार वे लड़कियाँ भी मुसीबतें झेल रही हैं। वह चाहता है कि उनका भविष्य उज्ज्वल हो। यही मानव के मन की आशा का अंकुर है। भविष्य की आशा के कारण ही वह वर्तमान जीवन में अनेक कष्टों का सामना करने के लिए तैयार होता है।

सुब्बय्या के चरित्र के विकास को इस मानसिक व्यापार के चित्रण द्वारा रचयिता ने व्यक्त किया है। मनोविज्ञान के आधार पर उसकी कल्पनाएँ, आदर्श, इच्छाएँ आदि का उत्स उसका अन्त:चैतन्य ही है। उन सबका विश्लेषण किये बिना, कार्य-कारण का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से हमें दृष्टिगोचर नहीं होता। सारे उपन्यास के इतिवृत्त में इस प्रकार सुब्बय्या की प्रवृत्ति को कार्य-कारण भाव के साथ समन्वित कर सकते है। इसी प्राथमिक आधार पर ही सारी रचना का विकास हुआ है।

इस उपन्यास में सम्पूर्णरूपेण विकास को प्राप्त पात्र सुब्बय्या ही है। अन्य सभी पात्र गौण हैं। सुब्बय्या के बाद प्रधान पात्रों में वेंकटराव, गवरय्या, और मनोरमा है। अन्य पात्र बिलकुल अप्रधान हैं। सुब्बय्या के मन के लोभ, भय और काम—इन तीनों गुणों के लिए ये तीनों पात्र व्याख्या सम हैं। सुब्बय्या के मन की हीनता और भय के मूल स्वभाव को बाहर काढ़ने वाला है वेंकटराव। तत्पश्चात् की सभी विपत्तियों का यही कारण बना है। सुब्बय्या का लोभ गवरय्या के द्वारा व्यक्त हुआ है। सामान्य रूप से देखें, तो लगता है कि सुब्बय्या का धन से कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु यदि उसे विश्वास होता कि रुपये नहीं मिलेंगे, तो जानते हुए भी वह गवरय्या से रुपये नहीं माँगता। यह उसके लोभी स्वभाव को व्यक्त करता है। मनोरमा उसके काम भाव को व्यक्त करती है। आँख उठा कर स्त्री के मुख की तरफ़ देखने का उसमें साहस नहीं है। इसीलिए 'मुनीश्वर' उसके आदर्श हैं। फिर भी मनोरमा के बुलाते ही वह उसके पास जाता है। वहाँ भी उसके भय की ही प्रधानता है। पसीना छूटता है, कमज़ोरी आ जाती है।...

सुब्बय्या का व्यक्तित्व त्रिकोणात्मक है। एक तरफ़ भय, दूसरी तरफ़ लोभ तो तीसरी तरफ़ काम उसके केन्द्र हैं। इस त्रिभुज में व्याप्त लक्षण है 'अल्पत्व' का भाव। इसलिए इस उपन्यास का नाम सार्थक बन पड़ा है।

वेंकटराव और गवरय्या दोनों ही ठेकेदार हैं। दोनों ही परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले पात्र हैं। वेंकटराव विलासी ज़मींदारी परिवार का है। घर के गुमाश्ता कामेशम् और मामा नरसय्या के धोखा देने पर जिद्दी बन कर 'स्वलाभ' रूपी झंडा खड़ा करके, फिर थोड़े ही दिनों में स्वयं भी ठेकेदार बन जाता है। वह किसी को भी छोटी नजर से देख सकता है। वह 'करुणा' नामक शब्द को ही भूल जाता है। गवरय्या समाज के निम्नवर्ग से ऊपर आया हुआ व्यक्ति है। ईमानदारी से रहते समय, अधिकारियों की प्रवंचना के कारण उसमें समाज के प्रति प्रतिकार की भावना सुदृढ़ बन जाती है। उसकी वृत्ति कुन्द रह-रह कर एकदम पैनी बनी तलवार के समान है। इन दोनों में बिलकुल बनती नहीं। उसमें भी गवरय्या का नाम लेने पर अथवा उसको आदर देने पर वेंकटराव बौखला जाता है। लेकिन अपने पास पैसे न रहने पर, सुब्बय्या के द्वारा गवरय्या के पास से रुपये खींच लेने में और उन्हें नकार देने में वह बिलकुल संकोच नहीं करता।

मनोरमा अचानक ही सुब्बय्या के जीवन में प्रवेश करती है। वह मानव के जीवन में प्रवेश करने वाले अदृष्ट के समान है। सुब्बय्या के मानसिक रंगमंच पर मनोरमा पहले 'काली साड़ी वाली' के रूप में प्रवेश करती है और तदनन्तर उसके जीवन में प्रमुख स्थान को घेर लेती है। जब सुब्बय्या कष्टों में है, तब वह उसे सान्त्वना देती है। सुब्बय्या उसी के सामने अपने हृदय को खोल सकता है। पत्नी के सामने भी संकोच करने वाला और सबके सामने डरते-डरते रहने वाला सुब्बय्या मनोरमा के सामने दिल खोल कर बातें कर सकता है।

इस प्रकार त्रिभुजाकार के रूप में ये तीनों पात्र सुब्बय्या को घेरे रहते हैं। अन्य अप्रधान पात्र हैं—रामस्वामी, पोतन्ना, पोतराजु, अवधानी, सावित्री, कल्याणी। इनमें पहले तीन पात्र अपनी प्रवृत्ति से गवरय्या के पात्र में अवधानी और सावित्री वेंकटराव में और कल्याणी मनोरमा में लीन हो जाते हैं। यह वर्गीकरण उन पात्रों के व्यक्तित्व की असमग्रता तथा उनके सुब्बय्या के साथ सम्बन्ध के आधार पर किया गया है। सुब्बय्या को गवरय्या का वर्ग पीडित करता है, वेंकटराव का वर्ग डराता है, तो मनोरमा का वर्ग सान्त्वना प्रदान करता है।

सुब्बय्या को केन्द्र बना कर इस त्रिभुज को घेरा हुआ भय आधुनिक मानव का है। अन्तःप्रवृत्तियों तथा बहिःप्रवृत्तियों के संघर्ष में वह कहीं न कहीं सान्त्वना देने वाले आश्रय की खोज में रहता है। आधुनिक मानव को कोई न कोई शान्ति देने वाला आश्रय मिल कर रहेगा, यही उपन्यास के अन्त में सूच्य है।

इस उपन्यास में लेखक ने रचना-शिल्प से दो नये रूपों मे काम लिया है। पहला है, अन्तःप्रवृत्तियों को सूचित करते जाना अर्थात् व्यक्ति के विभिन्न रूपों को एक समय में प्रदर्शित करना। दूसरा है, छोटे-छोटे वाक्यों की रचना द्वारा कथागमन को अत्यन्त वेगशील बनाना।

रुपये वापस माँगने के लिए गवरय्या का चपरासी पोतन्ना आता है रुपये माँग लेने के बाद कहीं गवरय्या दिखाई पड़े तो सुब्बय्या डरता रहता है। उसे बिल-सेक्शन से डिस्पैच सेक्शन में बदल दिया जाता है और उसी दिन गवरय्या का आदमी आता है। रुपये वापिस माँगते ही, मन में काफ़ी संघर्ष के बाद वह कहता है कि 'अगर थोड़ा समय दे दें तो लौटा दूंगा।' लेकिन मन में कह लेता है कि 'अरे, बात निकल गयी। कह देता कि नहीं दूंगा, तो कितना अच्छा होता। नकार देता तो गवरय्या क्या कर लेता ? क्या करता ? कुछ भी कर सकता है। गवरय्या नाराज़ हो जाए, तो कुछ भी कर सकता है। उस प्रकार के आदमी से झगड़ा मोल ले कर कोई लाभ नहीं है। सीधा व्यवहार ही अच्छा है।' इस विचार से सुब्बय्या के दो व्यक्तित्त्व प्रकट होते हैं। पहला, दूसरे के साथ बिना लड़े-झगड़े सरलता के साथ रहने का लक्षण है। यह प्रकट रूप से दिखायी पड़ने वाला है। भीतर की भावना है कि हो सके तो नकार जाए। गवरय्या के साथ वह ऐसा नहीं कर सकता। इसलिए वह चुकाये बिना नहीं रह सकता। वरन् नकार देने में वह कोई संकोच नहीं करता। संसार में सज्जनता और न्याय के साथ रहने का ढोंग करने वाले के अन्तर में विष सर्प छिपे रहते हैं। लेखक ने उन्हें व्यक्त किया है। सुब्बय्या मनोरमा के साथ अवैध सम्बन्ध रखने में संकोच नहीं करता। लेकिन वह फिर दुबारा बुलाती है, तो डर जाता है कि कहीं वह रुपये न माँगे। अर्थात् हो सके तो किसी भी प्रकार का अत्याचार करने में वह आगे-पीछे नहीं करता।

एक और जगह पर—'सुब्बय्या ने आँखें बन्द कर लीं। रिश्वत, अपराध ! जेल ! दण्ड ! सुब्बय्या ने आँखें खोलीं। हे भगवान्, मुझे डर लग रहा है। हे भगवान्, इन विचारों से मुझे बचाओ। हे परात्पर, मैं पगला जा

रहा हूँ। 'हिरन के बच्चे' देरी से घर जा रही हैं। परमेश्वर ! मुझमें यह भय क्यों ? लँगड़ा देरी से बाज़ार जा रहा है। हे सर्वेश्वर ! मैंने कोई अपराध तो नहीं किया है ? छबीली नारियल का टोकरा खाली करके जा रही है। भगवान्, मैं किसी पाप को नहीं जानता। सिल्क की जाकेट वाली लड़की लाइट-हाउस से आ गयी। ईश्वर ! सर्वेश्वर ! सब में भैरव है, हेडक्लर्क... लाल साड़ी वाली... ...बेचारा अवधानी......वेंकटराव के लिए किया है... ज़मींदार... बुरे दिन .. सामने के घर से कौन आ रहे हैं ?" यह है सुब्बय्या की विचार-धारा। उसे मालूम है कि जो किया वह ग़लत है। किन्तु अपने काम का समर्थन कर लेता है कि वह काम वेंकटराव के लिए किया है, इसलिए दोष नहीं है। एक ओर ये विचार हैं, तो दूसरी ओर सड़क पर जो हो रहा है, उस पर नज़र लगी हुई है। चेतना-धारा की अभिव्यक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानसिक व्यापार कितना क्लिष्ट एवं जटिल है। मन तो बहुमुखों में संचरण कर ही रहा है। यह उपन्यास इसी चेतना-धारा के विशिष्ट वर्णन से भरा पड़ा है।

वेंकटराव और गवरय्या के पूर्ववृत्तान्त का वर्णन करते समय भी रचयिता अत्यन्त सावधानी से काम लेता है। इस रचना में भाषा पर किये गये प्रयोग भी अत्यन्त विशिष्ट हैं। 'यूलिसिस' में सारा उपन्यास एक वाक्य में कहा गया है, कहीं विच्छेद नहीं है। अर्थात् यह रचना सूचित करती है कि मनोव्यापार भी पूर्वापर, उत्तरोत्तर परस्पर निबद्ध हैं और सारा जीवन एक अखण्ड महावाक्य है। तेलुगु में श्री विश्वनाथ शास्त्री ने वाक्य रचना में ऐसा प्रयोग तो नहीं किया, किन्तु छोटे-छोटे वाक्य अथवा खण्ड वाक्यों का प्रयोग कर उपन्यास के कथा प्रवाह में अपूर्व रूप से अत्यन्त वेग को ला खड़ा किया है। रचना-शिल्प की इसी विशिष्टता के कारण तेलुगु के उपन्यास साहित्य में 'अल्पजीवी' का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

कुछ प्रमुख उपन्यास–13

बलिपीठमु

डा. अड्‌पा रामकृष्णराव

समकालीन समाज के प्रतिबिम्ब के रूप में उपन्यास की रचना कर, सामाजिक कुप्रथाओं तथा अव्यवस्थाओं के निराकरण के लिए उसे साधन के रूप में ग्रहण करने वालों में श्रीमती रंगनायकम्मा का विशिष्ट स्थान है ।

प्रस्तुत उपन्यास में अन्तर्जातीय विवाह के बुरे परिणामों का विशद चित्रण करते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि सुखी दाम्पत्य जीवन पति-पत्नी के विवेक और परिष्कृत संस्कारों पर निर्भर होता है ।

समकालीन सामाजिक जीवन को प्रतिबिंबित करने में, आधुनिक युग की सभी साहित्यिक विधाओं में उपन्यास को ही प्रथम स्थान देना चाहिए। सामाजिक जीवन को यथातथ्य रूप में चित्रित करना ही नहीं, अपितु समाज में जड़ जमायी हुई कुप्रथाओं तथा दुराचारों को पाठकों की दृष्टि में ला कर, उनके अन्तःकरण में हलचल उत्पन्न कर, प्रत्यक्ष रूप से न सही, परोक्ष रूप से ही समाज में परिवर्तन लाने में भी यह साहित्यक विधा उपादेय सिद्ध हुई है। कुछ उपन्यासकार तो अपने उपन्यासों को 'अस्त्र-शस्त्र' मान कर समाज के दोषों का निराकरण करने का सफल प्रयत्न करते हैं। उन लेखकों ने पाठकों को चेतावनी दी है कि भले ही संकल्प बहुत अच्छे हों, पर उनके अति भयंकर परिणामों की ओर ले जाने की सम्भावना बनी रहती है। अंग्रेज़ी साहित्य के विक्टोरियन युग के इंग्लैण्ड की दीन-दलित प्रजा की निकृष्ट दशा का चार्ल्स डिकेन्स ने अपने उपन्यासों में हृदय-विदारक वर्णन करके धनवानों की दृष्टि को उस ओर आकृष्ट किया था। हैरियट बीचर स्टोव नामक रचयित्री ने 'अंकुल टॉम्स कैबिन' नामक उपन्यास में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में अपने समकालीन गुलाम हब्शियों के निकृष्ट जीवन का यथातथ्य चित्रण कर, उनकी स्वेच्छा प्राप्ति के लिए, परोक्ष रूप से ही, सहयोग प्रदान किया था। सिंक्लेयर लूइस, जान स्टेइन बैक आदि अमेरिकन उपन्यासकारों ने समकालीन समाज के दोषों का प्रभावशाली चित्रण किया है। इस साहित्यिक प्रक्रिया के इतिहास को देखने पर यह स्पष्ट होता है कि प्रायः सभी देशों में समकालीन सामाजिक जीवन का चित्रण करने के तथा परोक्ष रूप से सामाजिक आलोचना के साधन के रूप में इसे अपनाया गया है।

आन्ध्र में भी कुछ लेखकों ने उपन्यास को समकालीन सामाजिक जीवन के दर्पण के रूप में तथा सामाजिक दोषों पर आक्रमण करने के लिए साधन के रूप में ग्रहण किया है। 'मालपल्ली', 'ब्राह्मणीकं', 'वेयिपडगलु' (सहस्र फन) 'युग संधि', 'पाकुडु राळ्ळु' (काईदार पत्थर) आदि कई उपन्यासों

ने हमारे सामाजिक जीवन को निस्संकोच चित्रित किया है। अभी हाल ही में प्रकाशित उपन्यासों में श्रीमती मुप्पाळ रंगनायकम्मा की रचना 'बलिपीठमु' भी इसी श्रेणी की है।

'बलिपीठमु' तेलुगु भाषा की एक साप्ताहिक पत्रिका में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो कर सन् 1963 में पुस्तकाकार में प्रकाश में आया है। आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी ने, हाल में प्रकाशित उपन्यासों में इसे श्रेष्ठ मान कर सन् 1966 जनवरी में पुरस्कार प्रदान किया है। श्रीमती रंग-नायकम्मा के अन्य प्रकाशित उपन्यासों में 'कृष्णवेणी', 'आंडाळम्मा', 'पेकमेडलु' (ताश के महल) आदि उल्लेखनीय हैं।

'बलिपीठमु' नामक उपन्यास के रचना के लक्ष्य की ओर संकेत करते हुए लेखिका ने 'प्रस्तावना' में लिखा है कि "आज की सामाजिक परिस्थितियों तथा उनकी अच्छाई-बुराई का, जहाँ तक मेरा ज्ञान है, यथातथ्य चित्रण कर, दर्पण में प्रतिबिम्ब समान ही, उसे समाज के सामने प्रस्तुत करना ही मेरा उद्देश्य रहा है।" आज कई लोग इस विषय का सदुपदेश देते रहते हैं कि जाति और वर्ण भेद मिट जाने चाहिए तथा सभी में भातृ-भावना उत्पन्न होनी चाहिए। वर्ण-भेदों को मिटा देने के लिए प्रधानतः अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहित करना चाहिए और युवकों को इस प्रकार के समाज-सुधार के लिए कमर कस कर, वर्ण भेद रहित आदर्श समाज को स्थापना के लिए नींव डालनी चाहिए आदि आदि। लेकिन कई लोग इस बात पर विचार नहीं करते कि इस प्रकार दो भिन्न वर्णों तथा संप्रदायों की युवती और युवक सुधार की इच्छा से विवाह कर लें तो बाद में उनका जीवन किसी प्रकार के मनोवैषम्य के बिना शान्ति के साथ व्यतीत होगा कि नहीं। उन उपदेशकों को इसी में सन्तोष है कि आदर्श के रूप में एक अन्तर्जातीय विवाह सम्पन्न हो गया है। लेकिन वे यह नहीं सोचते कि विवाह तो उन दोनों का हुआ है, किन्तु उन दोनों के माता-पिता और दूसरे रिश्तेदार किसी प्रकार के संकोच के बिना मिलजुल कर कैसे रह सकते हैं? उनके आचार-व्यवहार, तथा जीवन के प्रति भिन्न दृष्टिकोण आदि उन दोनों में संघर्ष को स्थान दे कालान्तर में दोनों में मानसिक क्लेश उत्पन्न नहीं करेंगे?

वर्णान्तर विवाहों के लिए स्वयं महात्मा गान्धी ने पौरोहित्य करके, हमारी दृष्टि में उस प्रकार के विवाहों के लिए गौरव उत्पन्न किया है। अतीत में कभी वर्ण व्यवस्था ने हमारे समाज को सुदृढ़ बनाये रखने में सहयोग दिया

हो, किन्तु आज जन्म-जात वर्ण और व्यवसाय में किसी प्रकार के संबंध के न रह जाने से आज यह वर्ण व्यवस्था राजनीतिक पक्षपातों तथा अनेकों अनर्थों का कारणभूत बन रही है। उनसे कोई दूसरा प्रयोजन सिद्ध नहीं हो रहा है। इसलिए वर्णभेदों को मिटा देने के लिए समाज सुधारकों के उपदेश में कोई अनौचित्य नहीं है। फिर भी अन्तर्जातीय विवाह सिद्धान्त रूप में कितने ही प्रशंसनीय क्यों न हों, किन्तु आज विचारणीय समस्या तो यह है कि क्या वे सचमुच अपने अभीष्ट लक्ष्यों को प्राप्त कर रहे है? कई लोग मानते हैं कि अन्तर्जातीय विवाह अत्युत्तम आदर्श का प्रतीक है, अतः उसके विपक्ष में किसी प्रकार की आलोचना करने में वे बड़ा संकोच करते हैं।

लेकिन समाज सुधार की प्रगाढ़ अभिलाषा रखने वालों को समाज आसानी से नहीं छोड़ता। उन्हें अपने सुख तथा आनन्द को समाज के बलिपीठ (बलिवेदी) पर निछावर करना पड़ता है। यह बड़ी अप्रिय समस्या है। सुधारक के चहुँ ओर का समाज उसे उतनी ऊँचाई तक उड़ने नहीं देता। अतः उसे पग पग पर अनेक कष्टों और यातनाओं का सामना करना पड़ता है। जिन्हें उसने चाह कर अपनाया है, वे ही लोग उसके आशयों को न समझ कर, ताने दे कर, उसके हृदय को छलनी बनाते रहें, तो उसे केवल अपने सुदृढ़ संकल्प का सहारा ले कर, कठिन पाषाण-कंटकावृत्त पथ पर जीवन की यात्रा करनी होगी।

इस सामाजिक समस्या को इतिवृत्त के रूप में चुन कर, अन्तर्जातीय विवाह आगे चल कर किन अप्रत्याशित मानसिक क्लेशों को स्थान दे सकते हैं, इसका चित्रण करने में 'बलिपीठमु' की रचयित्री को अभिनन्दनीय सफलता प्राप्त हुई है। फिर भी उपन्यास की प्रस्तावना में लेखिका ने अपने दृष्टिकोण को इन शब्दों में स्पष्ट किया है। "अन्तर्जातीय विवाहितों का निषेध करना या उस मार्ग में आगे बढ़ने वालों को निरुत्साहित करना इस उपन्यास का उद्देश्य नहीं है। सभी प्रकार से अपने आपको संयम में रख सकने वाले शक्तिमान जन ही साधारण लोगों के मार्गदर्शक बन सकते हैं।"

वाल्तेर में 'करुण समाजम्' नामक जन सेवा करने वाली संस्था का सदस्य बन कर, अनाथ शिशु पालन, रोगियों की सेवा-शुश्रूषा, गुप्तदान, प्रेत संस्कार, विस्थापितों के खानपान का प्रबन्ध, उनकी सहायता करना आदि अनेक सेवा कार्यों में लगन के साथ जुटा रहने वाला आदर्श युवक भास्करराव 'बलिपीठमु' का नायक है। उसकी इच्छा थी कि ब्रह्मचारी बना रह कर, सेवा

कार्य के लिए अपने जीवन को समर्पित कर दे। लेकिन उनके दो हितैषी—उसके गुरुतुल्य और करुण समाजाश्रम के निवासी 'महर्षि', उसकी सेवा तत्परता से मुग्ध बने राजनैतिक नेता पोट्टि श्रीरामुलु—उसे विवाह कर लेने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। उनका कहना है कि मानव के लिए ब्रह्मचर्य स्वाभाविक नहीं है और सयानी युवतियों के संग समाज में काम करते रहने से स्वयं कई अफ़वाहों के शिकार बन, 'करुण समाज' को भी बदनाम करने का अवसर है, अतः उसे विवाह कर लेना चाहिए। अन्त में भास्करराव विवाह करना स्वीकार कर लेता है, पर यह निर्णय कर लेता है कि मेरा विवाह समाज-सुधार रूपी हो, मेरी वधू या तो बाल विधवा हो या दूसरे वर्ण की स्त्री हो।

एक दिन 'बीच' से लौटते हुए भास्करराव को सड़क पर बेहोश पड़ा एक बूढ़ा दिखाई पड़ता है। वह उसे ले जा कर करुण समाज में भर्ती कराता है। उस बूढ़े के कारण, उसके भाई की पुत्री से भास्करराव का परिचय हो जाता है। वह परिचय धीरे-धीरे प्रणय का रूप धारण करता है। भास्करराव निश्चय कर लेता है कि तारा से विवाह कर लूँ।

इतने में उसके जीवन में एक मोड़ आ जाता है। रामनाथम् नामक उसका एक मित्र, उसे हैदराबाद बुला कर अरुणादेवी नामक एक ब्राह्मण स्त्री से परिचय कराता है। वह बालविधवा थी। दिल की बीमारी से तड़पती हुई वह सभी प्रकार की चिकित्साओं से निराश हो कर जीवन पर ही आशा छोड़ बैठी थी। उसका विश्वास था कि मैं अब कुछ ही महीनों की मेहमान हूँ। लेकिन उसके मन में बलवती इच्छा होती है कि इस बीच पुनः विवाह कर लूँ। उसकी आकांक्षा थी कि अन्तिम दिनों में ही सही, ललाट पर कुंकुम की बिन्दी लगा कर (माँग भर कर), जूड़े में फूल रख, सुहागिन बनूँ और उसी हालत में मर जाऊँ। यह जान कर ही रामनाथम् भास्करराव को हैदराबाद बुला कर, अरुणा से परिचय कराता है।

प्रारम्भ से ही स्वच्छन्द रूप से समाज सेवा में तल्लीन हो, दीन-दुखियों को सान्त्वना देना ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाये रखने वाला भास्करराव अरुणा की अन्तिम इच्छा की पूर्ति के लिए, उसके साथ विवाह करने को राजी हो जाता है। उसका विश्वास है कि "एक दीना की अन्तिम इच्छा की पूर्ति कर सकूँ तो मेरा जीवन धन्य बन जाएगा।" किन्तु उस समय वह अरुणा को बताता है कि मैं हरिजन हूँ। अरुणा चकित रह जाती है,

किन्तु फिर दिल कड़ा करके कहती है कि "पुर्नविवाह को चाहने वाली का अन्तर्जातीय विवाह के निरास करने मे कोई अर्थ नहीं है।" यह कह कर वह भास्करराव के साथ विवाह करना स्वीकार कर लेती है।

उसके बाद भास्करराव किसी प्राकृतिक चिकित्सालय में अरुणा की चिकित्सा कराता है। मानसिक रूप में आये परिवर्तन के कारण और चिकित्सा के कारण उसका स्वास्थ्य सुधर जाता है। दोनों विवाह कर लेते हैं। उन्हें एक पुत्री होती है।

"बिटिया का रंग तुम्हारा है न ! बहुत भली लगती है न अरुणा।" एक दिन भास्करराव बच्ची के साथ खेलते हुए कहता है। अरुणा हँसते हुए जवाब देती है कि "नहीं तो क्या आपका रंग आने देती ?" यह सुनते ही भास्करराव के मुख का रंग उड़ जाता है। उस पर ध्यान दिये बिना ही अरुणा हँसती हुई बोलती गयी—"सच बोलूंगी। मुझे सदा चिन्ता लगी रहती थी कि कहीं बिटिया का रंग आप जैसा काला न हो। खैर, भगवान् की कृपा से अब कोई चिन्ता नहीं है।" वह वहाँ से उठ कर चला जाता है।

उस दिन से धीरे-धीरे दोनों में मनमुटाव शुरू हो जाता है। अरुणा की इच्छा थी कि बेटी की बारही ठाठ-बाट से करूँ। भास्करराव का कहना था कि अर्थ रहित आचारों के नाम पर धन का अपव्यय करना मुझे अच्छा नहीं लगता, बेटी के जन्म की प्रसन्नता से किसी गरीब बच्ची की सहायता करें तो अच्छा रहेगा। अरुणा की बुआ ताना देती है कि ब्राह्मण का जन्म ले कर बारही न करना कहीं देखा नहीं है। इस पर अरुणा को भी भास्करराव पर कुछ विरक्ति होती है।

धीरे-धीरे अरुणा में परिवर्तन आता है। भास्करराव की सामर्थ्य पर ध्यान दिये बिना वह फ़िज़ूल खर्च करने लगती है। भास्करराव का भानजा गोपी उसके पास रहने लगता है। गोपी का निरादर करके अरुणा उसके साथ सेवक से भी गया-बीता व्यवहार करने लगती है। रसोई घर में उसे नहीं खिलाती। बरामदे में खाना परोस कर, अपनी जूठी थाली स्वयं धोने के लिए कहती। यह सब देख कर भास्करराव को मानो काठ मार गया। अरुणा वैसे बाद में पाश्चाताप करती है। किन्तु भास्करराव की बहनों तथा दूसरे रिश्तेदारों को देखने पर उसे बुरा लगता। वह बड़ी दुखी होती है कि उनके और अपने संस्कार में आकाश पाताल का अन्तर है, उन्हें अपने रिश्तेदार मानने के लिए उसका मन नहीं मानता।

अन्त में अरुणा क्रुद्ध हो एक चिट्ठी लिख कर अपने मामा के घर चली जाती है। चिट्ठी में वह लिखती है कि "यह अप्रिय गृहस्थी मुझे नहीं चाहिए। मैं अपने पैरों पर खड़ी रह कर जीवन बिता सकती हूँ। मैं जा रही हूँ।" उस समय वह गर्भवती थी। कुछ दिनों के बाद उसके एक पुत्र पैदा होता है। बच्चों पर की ममता के कारण उसे वापिस बुलाने के लिए भास्कर राव के किये सभी प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं। अन्त में अदालत जाने की नौबत आती है। अपने मामा के षड्यन्त्र के कारण अरुणा सभी झूठी बातें पेश कर पति के विरुद्ध गवाही देती है, किन्तु अन्ततः केस में भास्करराव के पक्ष की जीत होती है। फिर भी अपनी जिद्द के कारण अरुणा पति के पास न जा कर मामा के पास ही रह जाती है।

अपनी बहन अमला के जेम्स नामक ईसाई युवक से विवाह करने से अरुणा मना करती है। फिर भी उनका विवाह हो जाता है और उनकी गृहस्थी को सुख-सौभाग्य से गुज़रते देख कर अरुणा की समझ में आता है कि वधू और वर के वर्ण तथा धर्म के भिन्न होने पर भी अगर दोनों के मन एक हो जाएँ, विचारधारा मिल जाए, तो उनकी जिन्दगी सुख और शान्ति के साथ, प्रशान्ति के साथ गुज़र सकती है। पर, तब तक मानसिक व्यथा के कारण उसका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। पुनः करुण समाज में जा कर दीनजन की सेवा में लगा हुआ भास्करराव, उसके मृत्यु-मुख में रहने की बात सुन कर उसके पास आ जाता है। अन्त में भास्करराव के त्याग की गरिमा अरुणा की समझ में आती है। वह अन्तिम क्षणों में अपनी गलती को पहचानती है।

अन्तर्जातीय विवाहों की आलोचना करने के उद्देश्य से 'बलिपीठमु' उपन्यास की रचना नहीं हुई। लेखिका ने अपनी 'प्रस्तावना' में यह बात स्पष्ट कर दी है। इतना ही नहीं, कथा में भी अरुणा और भास्करराव के दाम्पत्य जीवन के विपरीत अमला-जेम्स के आनन्दमय गृहस्थ जीवन का चित्रण इस तथ्य की पुष्टि करता है। यदि दोनों पति-पत्नी संस्कार युक्त व्यक्ति हों और जीवन में आने वाले दुःख और सुख को विवेक के साथ समझ कर जीने वाले हों तो उन दोनों के वर्ण, धर्म, आचार, सम्प्रदाय आदि कितने ही भिन्न क्यों न हों, उनकी गृहस्थी सुखपूर्ण हो सकती है। लेकिन केवल सुधार की ही अभिलाषा ले कर, परस्पर, एक-दूसरे को समझे बिना ही जल्दबाज़ी के साथ विवाह करें तो किस प्रकार के विषम परिणाम उत्पन्न हो सकते हैं, यह इस उपन्यास में सूचित किया गया है। सारांश यह है कि यह एक ऐसी क्लिष्ट

सामाजिक समस्या है, जिस पर खुलेआम चर्चा करने के लिए लोग संकोच कर सकते हैं। इस प्रकार की समस्या को केन्द्र मान कर लिखे गये उपन्यास होने के कारण ही 'बलिपीठमु' पत्रिका के पाठकों के साथ आलोचकों की प्रशंसा को प्राप्त कर साहित्य-अकादमी के पुरस्कार के योग्य सिद्ध हुआ है।

अरुणा और भास्करराव के दाम्पत्य जीवन में उत्पन्न मनमुटाव और बेचैनी का वर्णन करने में, उन मतभेदों के फुहार के झड़ी के रूप में परिणत हो कर, उन्हें अलग करने की घटना का वर्णन करने में रचयित्री की समर्थता दिखाई पड़ती है। भास्करराव यद्यपि आदर्शों की आराधना करने वाला युवक है, फिर भी उसे मानवातीत रूप में चित्रित नहीं किया गया है। एक बार सिनेमा जा कर वह अपने निकट के सीट पर बैठी युवती की ओर तीन घंटे तक एकटक देखता रहता है! फिर भी उस युवती का तारा होना संयोग की बात है। अतः यह घटना कुछ हद तक अस्वाभाविक लगती है। पाठकों की सहानुभूति के पात्र बने तारा और अमला के चरित्र बड़े आकर्षक बन पड़े हैं। प्रधान कथावस्तु से प्रत्यक्ष सम्बन्ध न रखने वाली तारा की विगत कथा को उतने विशद रूप से वर्णन करना, कथा के शिल्प की दृष्टि से खटकता है। भास्करराव के तारा के साथ प्रेम करने में उसके पिछले कष्ट कारणभूत तो नहीं है न! जो भी हो रचयित्री के सामाजिक जीवन के चित्रण में प्रदर्शित स्वाभाविकता, रचना सामर्थ्य 'बलिपीठमु' उपन्यास की प्रसिद्धि के कारण हैं।

कुछ प्रमुख उपन्यास—14

चक्रभ्रमणमु

श्रीमती नायनि कृष्णकुमारी